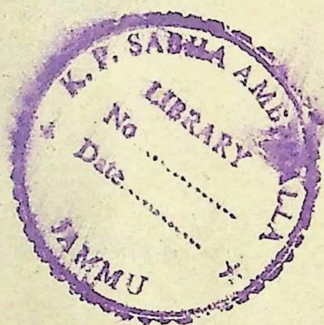
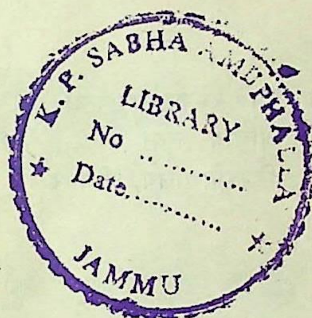





वितस्ता



शोध-संचयिका

हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर-१९०००६
१९८३

कश्मीर विश्वविद्यालय की शोध-पत्रिका नं० ४

सम्पादक : **डा० रमेशकुमार शर्मा**
आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी तथा संस्कृत विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, **श्रीनगर** ।

सम्पादक मण्डल : **डा० मुहम्मद अयूब खान**
रीडर, हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, **श्रीनगर** ।

डा० रोशनलाल ऐमा
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, **श्रीनगर** ।

डा० विमलाकुमारी मुंशी (रिसर्च एसोसियेट) ।

सरदार बलजीत सिंह
अनुसंधित्सु, हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, **श्रीनगर**

कश्मीर विश्वविद्यालय के कला संकाय की शोध पत्रिकाओं के मुख्य सम्पादक :
डा० एस० रहमान ।

मूल्य २० रु०

मुद्रक—आगरा फाइन आर्ट प्रेस, राजामंडी, आगरा-२८२००२

वितस्ता

(१९८३ ई०, वन्सत अङ्क)



संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बध्यते
भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।

परस्पर मिले हुए इस क्षर-अक्षर अथवा व्यक्ताव्यक्तरूप विश्व का परमात्मा पोषण करता है। मायाधीन जीव भोक्तृभाव के कारण उसमें बँधता है और परमात्मा का ज्ञान होने पर समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है। —**श्वेताश्वतरोपनिषद् ।।१-८।।**

क्रम

• • • •



१९८२ चतुर्थ वर्षार्द्ध के छात्र तथा विभाग के अध्यापक, कुलपति डा० व मलिक के साथ ।

पूर्व कथन

हिन्दी विभाग; यथार्थ के दर्पण में

डा० मुहम्मद अयूब खां
रीडर, हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर।

*

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर ने सन् १९५८ से १९८३ तक अनेक सोपानों में यात्रा सम्पन्न की है अतः विभाग के रूपाभ २५ संवत्सर आश्रम-जीवन के प्रतीक बन जाते हैं जहाँ उसने प्रभाती में मुखरित होने के लिए संचेतना संजोयी और भविष्य की संरचना के लिए शक्ति-संचयन करते हुए संवेदना के साथ बौद्धिक उपलब्धि का श्रेय भी प्राप्त किया। सन् १९६२ में हिन्दी विभाग में इन पंक्तियों का लेखक ही स्थायी रूप से अध्यापक था। मेरे अतिरिक्त सभी शेष अध्यापक अस्थायी रूप में नियुक्त थे। सन् १९६३ के मार्च में विभाग का भाग्योदय हुआ जब स्वनामधन्य आचार्य प्रवर पं० जगन्नाथ तिवारीजी ने विभागाध्यक्ष का पद सुशोभित किया। यह बहुत ही गौरव का युग था क्योंकि पंडितजी ने पदासीन होते ही इस विभाग में ही नहीं अपितु जम्मू-कश्मीर विश्वविद्यालय के तत्कालीन चारों विभागों हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू और मैथमैटिक्स में कलासंकाय के 'डीनपद' को संभालते हुए विकास का प्रथम सोपान स्थापित किया। पंडितजी ने इस विश्वविद्यालय में सबसे पहले शोध-कार्य की नवीन दिशा में प्रेरणा दी और पथ-प्रदर्शन किया। तभी एकेडेमिक काउंसिल में इस विश्वविद्यालय के विज्ञान तथा कला संकायों में शोध-कार्य का सूत्रपात उन्हीं के सतत् प्रयासों से सम्भव हुआ। आचार्य प्रवर पंडितजी के निर्देशन में देश के अनेक विश्वविद्यालयों में अनेक विद्वानों ने पीएच० डी० की उपाधियाँ प्राप्त की थीं, अतः इस विश्वविद्यालय को आचार्य के परिपक्व अनुभव से बहुत लाभ हुआ। मुझे उनके निर्देशन में सहयोगी अध्यापक और अनुसन्धित्सु होने का ही गौरव प्राप्त नहीं है, अपितु उनके निर्देशन में जम्मू-कश्मीर विश्वविद्यालय के प्रथम पीएच० डी० की उपाधि को प्राप्त करने का श्रेय भी प्राप्त है। अतः जम्मू-कश्मीर राज्य में और यहाँ के विश्वविद्यालय के प्रांगण में उन्हीं की प्रतिभा के फलस्वरूप अनुसंधान की प्रथम किरण आलोकित हुई है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की मूल कामना ऐसे ही वरद ज्योति-पुंज के प्रति मुखरित हुआ करती है।

यात्रा का एक और महत्त्वपूर्ण मोड़ सितम्बर सन् १९६४ ई० है जब डा० रमेशकुमार शर्मा ने रीडर के पद को सम्मानित किया। उस समय तक शोध-कार्य का सूत्रपात हो चुका था लेकिन उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ था। डा० शर्मा के आने के पश्चात् हम लोगों में शोध-

कार्य की प्रेरणा द्विगुणित हुई। अब विभाग में दो दिशा-निर्देशक हो गये थे। सन् १९६५-६६ में विभाग से दो अध्यापकों को पीएच० डी० की उपाधियाँ प्राप्त हुई। पंडितजी के निर्देशन में मुझे 'निराला के काव्य की दार्शनिकता' पर और 'लल्लेश्वरी और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन' पर डा० मोहिनी कौल को पीएच० डी० की उपाधियाँ प्रदान की गई।

सन् १९६५ ई० में जम्मू मंडल में हिन्दी-विभाग का आरम्भ हुआ। इस नये विभाग की स्थापना के लिए हमारे पूज्य गुरुवर पंडित जगन्नाथ तिवारी जी से प्रार्थना की गई। अतः स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग कश्मीर मंडल को बहुत बड़ा त्याग उस समय करना पड़ा जब अश्रुपूरित नयनों ने उन्हें विदा दी। इधर डा० रमेशकुमार शर्मा विभागाध्यक्ष हुए।

डा० रमेशकुमार शर्मा एक व्यक्तित्व के धनी और अपने गुरुदेव पंडित जगन्नाथ तिवारी के अनुगामी होने के कारण धुन के पक्के व्यक्ति सिद्ध हुए। यात्रा के अनेक पड़ावों पर उन्हें संघर्ष को झेलना पड़ा लेकिन 'न दैन्यं न पलायनं' का अमोघ मंत्र जपते हुए वे विभाग के विकास में अटल खड़े हुए दिखाई दिये। उनके संवेदनशील व्यक्तित्व में अनुशासन का इस्पात भरा हुआ है। अतः विभाग अनेक विरोधी चट्टानों को पैरों से ढकेलता और ठुकराता हुआ निरन्तर विकास के सोपानों को पार करता चला गया। जब डा० शर्मा ने अध्यक्ष-पद को संभाला तो विभाग में केवल चार अध्यापक थे लेकिन आज नौ अध्यापक हैं। यह उन्हीं की सतत साधना का प्रतिफलन है।

विभाग में एम० ए० के पाठ्यक्रम का अध्यापन तथा एम० फिल० और पीएच० डी० के शोध-कार्य का निर्देशन किया जा रहा है। अब तक कश्मीरी विषयक आठ पीएच० डी० की उपाधियाँ इस विभाग के शोधार्थियों को प्रदान की गई हैं। लल्लेश्वरी और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन, महजूर तथा बालकृष्ण शर्मा नवीन के काव्य की तुलना, 'वाणासुर वध' का पाठ्यालोचन, कश्मीरी भाषा का उद्भव और विकास तथा अन्य भारतीय भाषाओं से उसका सम्बन्ध, कश्मीरी तथा हिन्दी कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन, विष्णुप्रताप रामायण का आलोचनात्मक अध्ययन और साठोत्तरी हिन्दी तथा कश्मीरी कविता में आधुनिक संवेदना जैसे विषयों पर इस राज्य में सबसे पहले हिन्दी के अनुसन्धित्सुओं को ही शोध-कार्य करने का श्रेय प्राप्त हुआ है।

शोध-कार्य या तो अप्रकाशित तत्त्वों की खोज करने के लिए किया जाता है अथवा प्रकाशित तत्त्वों की नवीन व्याख्या के उद्देश्य से सम्पन्न किया जाता है अतः इसकी निष्पत्तियों और मूल्यांकन में नवीनता और मौलिकता के गुण सदैव प्रत्याशित हैं। वाणासुर वध का पाठ्यालोचन, कश्मीरी भाषा का उद्भव और विकास तथा अन्य भारतीय भाषाओं से उसका सम्बन्ध, विष्णुप्रताप रामायण का आलोचनात्मक अध्ययन और साठोत्तरी हिन्दी तथा कश्मीरी कविता में आधुनिक संवेदना जैसे शोध-कार्यों में उपर्युक्त गुण विशेषरूपेण ध्यानाकर्षण करता है।

हिन्दी साहित्य की अनेक विधाओं पर जो पीएच० डी० की उपाधि के लिए शोध-कार्य हुआ है वह एक तथ्य को सूचित करता है कि हिन्दी काव्य के प्रति यहाँ बहुत कम रुचि पाई जाती है। 'निराला के काव्य में दार्शनिकता' तथा 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्य' क्रमानुसार डा० मुहम्मद अयूब खाँ और डा० निज़ामुद्दीन के शोध-कार्य हैं। शेष १२ गद्य साहित्य पर आधारित शोध प्रबन्ध हैं तथा एक दर्शन पर आधारित शोध प्रबन्ध है। हिन्दी नाटकों पर लिखे गये दो शोध प्रबन्ध हैं। दो कहानी-साहित्य पर आधारित हैं तथा ६ उपन्यास-साहित्य पर लिखे गये शोध प्रबन्ध हैं। 'लद्दाख के लोकगीत'—डा० दुर्जेय छेवांग का एक विशेष

शोध-प्रबन्ध है। 'कश्मीर का हिन्दी साहित्य' (डा० रत्नी रैना) नामक भी एक विशेष शोध-प्रबन्ध है। इस प्रकार अब तक विभाग से कुल २४ अनुसन्धित्सुओं को पीएच० डी० की उपाधि से सम्मानित किया गया है। एम० फिल० तथा एम० ए० के स्तर पर जो विशेष प्रबन्ध लिखे गये हैं उनकी तालिकाएँ इसी पूर्वकथन के साथ संलग्न हैं। अब तक एम० फिल० की १८ उपाधियाँ दी जा चुकी हैं। एम० ए० के स्तर पर हिन्दी विषयों को लेकर लिखे गये १६१ विशेष प्रबन्ध हैं। इनके अतिरिक्त २१ कश्मीरी भाषा और साहित्य पर आधारित, ८ कश्मीरी और हिन्दी के तुलनात्मक विषयों पर आधारित तथा एक पंजाबी और हिन्दी के तुलनात्मक अध्ययन से सम्बन्धी और एक संस्कृत तथा हिन्दी के तुलनात्मक अध्ययन से सम्बन्धी विषय पर आधारित सब मिलाकर १९२ विशेष-प्रबन्ध हैं जिनकी तालिका भी संलग्न है।

इस वर्ष ६ पीएच० डी० की उपाधियाँ और दी जाने वाली हैं। आशा है कि सन् १९८३ के दीक्षान्त समारोह में इन ६ अनुसन्धित्सुओं को इस उपाधि से अवश्य सम्मानित किया जा सकेगा। यह बड़े हर्ष का विषय है कि हमारे कुलपति महोदय आदरणीय डा० वहीदुद्दीन मलिक एक उच्च कोटि के एवं विश्व प्रसिद्ध अनुसन्धित्सु हैं। उनकी प्रेरणा का वरदान और शुभकामनाएँ सदैव हमारे साथ रही हैं और रहेंगी अतः हम भी इस दिशा में आगे बढ़ सकेंगे।

क—स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग के अध्यापकों के द्वारा किया गया शोध-कार्य :

१. प्रोफेसर डा० रमेशकुमार शर्मा, प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष,
एम० ए०, एलएल० बी०, पीएच० डी०, डी० लिट्०

(१) रीतिकाव्य का आधुनिक हिन्दी कविता पर प्रभाव (प्रकाशित) पीएच० डी० का स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

आगरा विश्वविद्यालय, आगरा सन् १९५८

निर्देशक—**प्रो० पं० जगन्नाथ तिवारी,** अध्यक्ष हिन्दी विभाग, **आगरा कालेज, आगरा**

प्रकाशक—**विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-२**

(२) शृंगारकाल तथा उसकी कविता का पुनर्मूल्यांकन (प्रकाशित) डी० लिट्० का स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

आगरा विश्वविद्यालय, आगरा सन् १९७७

प्रकाशक—**आर्य बुक डिपो, ३० नाईवाला करौलबाग, नई दिल्ली**

इसके अतिरिक्त इनके सफल निर्देशन में लगभग २५ अनुसंधित्सुओं को पीएच० डी० की उपाधि मिल चुकी है।

२. डा० मुहम्मद अयूब खाँ, **एम० ए० (हिन्दी तथा संस्कृत), पीएच० डी०, डी० लिट्०**
रीडर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, **कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर।**

(१) निराला के काव्य में दार्शनिकता (प्रकाशित) पीएच० डी० का स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

जम्मू-कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर सन् १९६५-६६

निर्देशक—**प्रो० पं० जगन्नाथ तिवारी** अध्यक्ष हिन्दी विभाग, **जम्मू-कश्मीर वि० वि०, श्रीनगर**

प्रकाशक—**आर्य बुक डिपो, ३० नाईवाला करौलबाग, नई दिल्ली**

(२) बीसवीं शताब्दी की हिन्दी कविता की दार्शनिक चेतना डी० लिट्० का स्वीकृत शोध-प्रबन्ध ।

मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ सन् १९८०

(३) हिन्दी का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन (प्रकाशित) एम० ए० परीक्षा के लिए लिखा गया विशेष-प्रबन्ध ।

मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ सन् १९५८

निर्देशक—**प्रो० डा० हरवंशलाल शर्मा**, हिन्दी विभागाध्यक्ष **मु० विश्वविद्यालय अलीगढ़**

प्रकाशक—**बी० एन० प्रकाशक श्रीनगर, कश्मीर**

इनके सफल निर्देशन में चार पीएच० डी० भी प्रस्तुत किये गये हैं ।

३. डा० मोहिनी कौल, एम० ए०, पीएच डी०

रीडर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, **कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर**

लल्लेश्वरी और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन पीएच० डी० का स्वीकृत शोध-प्रबन्ध ।

जम्मू-कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर सन् १९६५-६६

निर्देशक—**प्रो० पं० जगन्नाथ तिवारी** अध्यक्ष हिन्दी विभाग, **जम्मू-कश्मीर वि० वि०, श्रीनगर**

४. डा० भूषणलाल कौल, एम० ए०, पीएच० डी०

रीडर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, **कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर**

महजूर तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन १९६९ में कश्मीर विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत पीएच० डी० का शोध-प्रबन्ध ।

निर्देशक—**प्रो० डा० रमेशकुमार शर्मा** विभागाध्यक्ष, **कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर**

इसके अतिरिक्त इनके सफल निर्देशन में एक पीएच० डी० भी प्रस्तुत हुई है ।

५. डा० त्रिलोकीनाथ गंजू, एम० ए, पीएच० डी०

लेक्चरर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग **कश्मीर विश्वविद्यालय श्रीनगर**

कश्मीरी भाषा का उद्भव और विकास तथा अन्य भारतीय भाषाओं से उसका सम्बन्ध कश्मीर विश्वविद्यालय द्वारा पीएच० डी० का स्वीकृत शोध-प्रबन्ध १९७४ ।

निर्देशक—**आचार्य डा० रमेशकुमार शर्मा**, विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, **कश्मीर विश्वविद्यालय श्रीनगर**

६. डा० रोशनलाल ऐमा, एम० ए०, पीएच० डी०

लेक्चरर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग **कश्मीर विश्वविद्यालय श्रीनगर**

द्विवेदीकाल की खड़ी बोली कविता और ब्रजभाषा कविता का तुलनात्मक अध्ययन पीएच० डी० का स्वीकृत शोध-प्रबन्ध ।

प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग १९६७

निर्देशक—**डा० रामकुमार वर्मा**, हिन्दी विभागाध्यक्ष, **प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग**

७. डा० सोमनाथ कौल, एम० ए०, पीएच० डी०

लेक्चरर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, **कश्मीर विश्वविद्यालय श्रीनगर।**

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी का विकास एवं मूल्यांकन पीएच० डी० का स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

कश्मीर विश्वविद्यालय श्रीनगर सन् १९७५

निर्देशक—**डा० मुहम्मद अयूब खाँ**, रीडर, हिन्दी विभाग, **कश्मीर विश्वविद्यालय श्रीनगर।**

८. डा० रामदयाल कटारा, एम० ए०, पीएच० डी०

लेक्चरर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, **कश्मीर विश्वविद्यालय श्रीनगर।**

हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन का विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन पीएच० डी० का स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

आगरा विश्वविद्यालय, आगरा सन् १९७३

निर्देशक—**डा० भगवत् स्वरूप मिश्र**, हिन्दी विभागाध्यक्ष, **आगरा कालेज, आगरा**

९. डा० बिमलाकुमारी मुंशी, एम० ए०, पीएच० डी०

रिसर्च एसोशियेट, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग **कश्मीर विश्वविद्यालय श्रीनगर।**

हरिकृष्ण 'प्रेमी' व्यक्तित्व एवं कृतित्व (प्रकाशित) पीएच० डी० का स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

कश्मीर विश्वविद्यालय श्रीनगर सन् १९७८

निर्देशक—**डा० मुहम्मद अयूब खाँ**, रीडर, हिन्दी विभाग **कश्मीर विश्वविद्यालय श्रीनगर**

ख—स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग कश्मीर विश्वविद्यालय के पीएच० डी० के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध :

१—निराला के काव्य में दार्शनिकता (प्रकाशित) सन् १९६५-६६ लेखक डा० मुहम्मद अयूब खाँ।

निर्देशक—**प्रोफेसर पं० जगन्नाथ तिवारी।**

प्रकाशक—आर्य बुक डिपो, ३० नाईवाला करौलबाग, नई दिल्ली

२—लल्लेश्वरी और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९६५-६६ लेखक डा० मोहिनी कौल।

निर्देशक—**पं० जगन्नाथ तिवारी।**

३—स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्य (प्रकाशित) सन् १९६८ लेखक डा० निज़ामुद्दीन।

निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा।**

४—महजूर तथा बालकृष्ण शर्मा नवीन के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९६९ लेखक डा० भूषणलाल कौल।

निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा।**

५—आज़ाद तथा 'दिनकर' के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९७० लेखक डा० अमरनाथ प्रशान्त ।

निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा ।**

६—यशपाल तथा रांगेयराघव की कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९७० लेखक डा० मोहनलाल बाबू ।

निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा ।**

७—हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों का अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९७० लेखक डा० राजदुलारी डुल्लू ।

निर्देशक—**डा० मुहम्मद अयूब खाँ ।**

८—पंडित श्रीराम शर्मा : व्यक्तित्व एवं कृतित्व (अप्रकाशित) सन् १९७३ लेखक डा० नीना कौल ।

निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा ।**

९—वाणासुर वध का पाठ्यालोचन (अप्रकाशित) सन् १९७३ लेखक डा० शशिशेखर तोषखानी ।

निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा ।**

१०—कश्मीरी भाषा का उद्भव और विकास तथा अन्य भारतीय भाषाओं से उसका सम्बन्ध (अप्रकाशित) सन् १९७४ लेखक डा० त्रिलोकीनाथ गंजू ।

निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा ।**

११—स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी एकांकी नाटकों का मूल्यांकन (अप्रकाशित) सन् १९७४ लेखक डा० कुसुम हण्डू ।

निर्देशक—**डा० मुहम्मद अयूब खाँ ।**

१२—'विष्णुप्रताप रामायण' का आलोचनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९७५ लेखक डा० विजयमोहिनी कौल ।

निर्देशक—**डा० भूषणलाल कौल ।**

१३—कश्मीर का हिन्दी साहित्य (अप्रकाशित) सन् १९७७ लेखक डा० रत्नी रैणा ।

निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा ।**

१४—कश्मीरी तथा हिन्दी कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९७५ लेखक डा० फूला राज़दान ।

निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा ।**

१५—स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों का विकास एवं मूल्यांकन (अप्रकाशित) सन् १९७५ लेखक डा० सोमनाथ कौल ।

निर्देशक—**डा० मुहम्मद अयूब खाँ ।**

१६—हरिकृष्ण प्रेमी व्यक्तित्व एवं कृतित्व (प्रकाशित) सन् १९७८ लेखक डा० बिमला कुमारी मुंशी ।

निर्देशक—**डा० मुहम्मद अयूब खाँ ।**

प्रकाशक—आर्य बुक डिपो, ३० नाईवाला करौलबाग, नई दिल्ली

१७—साठोत्तरी हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारों के नैतिक मानदण्ड (अप्रकाशित) सन् १९८० लेखक डा० वीणाकुमारी।
निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा।**

१८—नवलेखन के सन्दर्भ में मोहन राकेश का कथा साहित्य (अप्रकाशित) सन् १९८० लेखक डा० नीता वाम्ज़ई।
निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा।**

१९—प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों में व्यक्ति और उनका अन्तर्द्वन्द्व (अप्रकाशित) सन् १९८० लेखक डा० ज़ेबुन्निसा ज़हीर।
निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा।**

२०—श्री अरविन्द और इक़बाल के दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९८१ लेखक डा० चमनलाल रैणा।
निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा।**

२१—साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में व्यंग्य-शिल्प (अप्रकाशित) सन् १९८२ लेखक डा० उषा कौल।
निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा।**

२२—आँचलिक उपन्यासकार फणीश्वरनाथ रैणु—व्यक्तित्व और कृतित्व (अप्रकाशित) सन् १९८२ डा० कुलदीप सुम्बली।
निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा।**

२३—साठोत्तरी हिन्दी तथा कश्मीरी कविता में आधुनिक संवेदना (अप्रकाशित) सन् १९८२ लेखक डा० उपेन्द्र रैणा।
निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा।**

२४—लद्दाख के लोकगीत (अप्रकाशित) सन् १९८२ लेखक डा० दुर्जेय छेवांग।
निर्देशक—**डा० रमेशकुमार शर्मा।**

ग—स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग के एम० फिल० उपाधि के स्वीकृत विशेष-प्रबन्ध :

१—आत्मजयी एक अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९८० लेखक अब्दुलरशीद गनाई।
निर्देशक—**डा० मुहम्मद अयूब खाँ।**

२—अनामदास का पोथा (अप्रकाशित) सन् १९८० लेखक आशुतोष कुमार।
निर्देशक—**डा० मोहिनी कौल।**

३—सागर लहरें और मनुष्य (अप्रकाशित) सन् १९८० लेखक नीलम मैगज़ीन।
निर्देशक—**डा० भूषणलाल कौल।**

४—यशपाल की अमिता (अप्रकाशित) सन् १९८० लेखक प्राणनाथ सप्रू।
निर्देशक—**डा० मोहिनी कौल।**

५—रोयेरेशे (अप्रकाशित) सन् १९८० लेखक आशा तिक्कू।
निर्देशक—**डा० भूषणलाल कौल।**

६—बिखरे मोती (अप्रकाशित) सन् १९८० लेखक वीणा कौल ।
निर्देशक—**डा० मोहिनी कौल।**

७—सतसंगर एक अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९८० लेखक अशोककुमार पंडित ।
निर्देशक—**डा० सोमनाथ कौल।**

८—मांस का दरिया एक अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९८० लेखक रेखा मट्टू ।
निर्देशक—**डा० सोमनाथ कौल।**

९—नाच्यौ बहुत गोपाल (अप्रकाशित) सन् १९८० लेखक वैजयन्ती मटास ।
निर्देशक—**डा० रामदयाल कटारा।**

१०—संसद से सड़क तक (अप्रकाशित) सन् १९८१ लेखक क्षमा कौल ।
निर्देशक—**डा० त्रिलोकीनाथ गंजू।**

११—टूटा हुआ कोना (अप्रकाशित) सन् १९८१ लेखक सरदार बलजीत सिंह ।
निर्देशक—**डा० रोशनलाल ऐमा।**

१२—एक उठा हुआ हाथ (अप्रकाशित) सन् १९८१ लेखक गौरीशंकर डासी ।
निर्देशक—**डा० रोशनलाल ऐमा।**

१३—रक्तकमल एक अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९८२ लेखक जोहरा बी ।
निर्देशक—**डा० रोशनलाल ऐमा।**

१४—मेरी प्रिय कहानियाँ एक अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९८१ लेखक गुलाम मुहम्मद बतकलू ।
निर्देशक—**डा० सोमनाथ कौल।**

१५—आँखों देखा ग़दर (अप्रकाशित) सन् १९८१ लेखक मुश्ताक अहमद ।
निर्देशक—**डा० रामदयाल कटारा।**

१६—'तमस' एक अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९८१ लेखक संजना कौल ।
निर्देशक—**डा० रामदयाल कटारा।**

१७—'परिन्दे' एक अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९८२ लेखक सन्तोष सराफ ।
निर्देशक—**डा० सोमनाथ कौल।**

१८—खंजन नयन एक अध्ययन (अप्रकाशित) सन् १९८२ लेखक रवीन्द्रकुमार रैना ।
निर्देशक—**डा० रामदयाल कटारा।**

घ—एम० ए० परीक्षा के लिए प्रस्तुत हिन्दी भाषा तथा साहित्य पर आधारित विशेष प्रबन्ध :

१ प्रसाद की कहानियों का एक अध्ययन, सन् १९६४, लेखक उर्मिला शर्मा
२ प्रसाद का श्रृंगार-चित्रण, सन् १९६४, लेखक ललिता कौल
३ रांगेयराघव और उनके ऐतिहासिक उपन्यास, सन् १९६४, लेखक मोहनलाल बाबू
४ प्रेमचन्द की प्रेम भावना, सन् १९६५, लेखक जगतमोहिनी फोतेदार
५ आचार्य चतुर्सेन के ऐतिहासिक उपन्यास, सन् १९६५, लेखक रामेश्वरी भट्ट
६ प्रेमचन्द की नारी भावना, सन् १९६५, लेखक कृष्णा कम्पासी
७ प्रसाद के साहित्य में नारी पात्र, सन् १९६५, लेखक मनमोहिनी रम्बाल

८ प्रेमचन्द की कहानियों में ग्रामीण जीवन, सन् १९६५, लेखक अमरनाथ शान्ति
९ उपन्यासकार जैनेन्द्र, सन् १९६५, लेखक शान्ता कौल
१० एकांकीकार रामकुमार वर्मा, सन् १९६५, लेखक अवतार कृष्ण कौल
११ कहानीकार जैनेन्द्र कुमार, सन् १९६५, लेखक कृष्णाकुमारी धर
१२ प्रेमचन्द की राष्ट्रीय भावना, सन् १९६५, लेखक सोमनाथ कौल
१३ निराला और उनके उपन्यास, सन् १९६५, लेखक सुदर्श शर्मा
१४ इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास, सन् १९६५, लेखक संतोष ज़ारू
१५ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक उपन्यास, सन् १९६६ लेखक राज कुमारी राज़दान
१६ उपन्यासकार भगवतीचरण वर्मा—एक अध्ययन, सन् १९६६ लेखक राजकुमारी काक
१७ उपन्यासकार उपेन्द्रनाथ अश्क, सन् १९६६ लेखक सुदेश आनन्द
१८ महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यास, सन् १९६६, लेखक शामा कुमारी मैगज़ीन
१९ कहानीकार भगवतीचरण वर्मा, सन् १९६६ लेखक मोहनलाल खूँखू
२० एकांकीकार उपेन्द्रनाथ अश्क, सन् १९६६ लेखक रत्नीकुमारी
२१ प्रेमचन्द के नाटक, सन् १९६६ लेखक राजदुलारी कक्कूर
२२ महाप्राण निराला और उसका परिमल, सन् १९६६ लेखक मोहिनी वातलू
२३ सेठ गोविन्ददास के एकांकियों का अध्ययन, सन् १९६६ लेखक गिरिधारीलाल खुर्दी
२४ वृन्दावनलाल वर्मा के सामाजिक उपन्यास, सन् १९६६ लेखक फूलाकुमारी कौल
२५ एकांकीकार विष्णु प्रभाकर, सन् १९६६, लेखक मोहिनी भान
२६ पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक नाटक, सन् १९६६, लेखक रत्नीकुमारी तिक्कू
२७ कहानीकार आचार्य चतुर्सेन शास्त्री, सन् १९६६, लेखक किश्नीकुमारी हक्खू
२८ समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द—एक अध्ययन, सन् १९६६, लेखक उर्मिला खन्ना
२९ प्रेमचन्द के उपन्यासों की राजनीतिक समस्यायें, सन् १९६६, लेखक मोहिनी कुमारी रैणा
३० प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में नागरिक जीवन का चित्रण, सन् १९६६, लेखक किश्नीकुमारी जोतशी
३१ गोविन्दवल्लभ पंत और 'नूरजहाँ', सन् १९६७, लेखक कृष्णाकुमारी रैणा
३२ हरिशंकर शर्मा व्यक्तित्व तथा काव्य, सन् १९६७, फूलाकुमारी मोज़ा
३३ 'प्रेमाश्रम' एक अध्ययन, सन् १९६७, लेखक प्यारेलाल रैणा
३४ ऐतिहासिक कहानीकार वृन्दावनलाल वर्मा, सन् १९६७, लेखक चूनी डुल्लू
३५ कहानीकार विष्णु प्रभाकर, सन् १९६७, लेखक अवतारकृष्ण कौल
३६ कहानीकार विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', सन् १९६७, लेखक कृष्णा काचरू

३७ श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' जी के दो प्रसिद्ध उपन्यास, सन् १९६७, लेखक चूनी कौल

३८ गुप्तजी का व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व, सन् १९६७, लेखक शीला कौल

३९ कहानीकार फणीश्वरनाथ 'रेणु', सन् १९६७, लेखक रत्नीकुमारी राज़दान

४० कहानीकार सुदर्शन, सन् १९६७, लेखक कुमारी रत्नी सीरू

४१ महादेवी वर्मा के निबन्ध, सन् १९६७, लेखक स्वर्णकांता शर्मा

४२ वृन्दावनलाल वर्मा के तीन ऐतिहासिक नाटक, सन् १९६७, लेखक संतोष काव

४३ हरिकृष्ण 'प्रेमी' के तीन सामाजिक नाटक, सन् १९६७, लेखक कुमारी सरला खुशो

४४ गुल्लेरीजी की कहानियाँ, सन् १९६७, लेखक ललिता जद

४५ श्रीराम शर्मा के संस्मरण तथा रेखाचित्र, सन् १९६७, लेखक कुमारी विमलाधर

४६ 'दिनकर' और उनकी उर्वशी, सन् १९६७, लेखक स्वर्णलता सूरी

४७ "गबन", सन् १९६७, लेखक शान्ता तिक्कू

४८ 'रंगभूमि' एक अध्ययन, सन् १९६७, लेखक रत्नाकुमारी कौल

४९ 'प्रेमचन्द के कथा साहित्य में गांधीवाद', सन् १९६७, जनककुमारी रैणा

५० "उपन्यासकार 'अज्ञेय'", सन् १९६७, लेखक अनिल रैणा

५१ 'नवीनजी का दोहा साहित्य', सन् १९६८, लेखक निर्मला जोगी

५२ 'पं० श्रद्धाराम 'फिल्लोरी' जी का व्यवितत्त्व एवं कृतित्त्व', सन् १९६८, लेखक सरला कुमारी

५३ हरिकृष्ण प्रेमी के तीन नाटक, सन् १९६८, लेखक नैन्सी कौल

५४ पं० श्रीराम शर्मा की शिकार विषयक कहानियाँ, सन् १९६८, लेखक नीना कौल

५५ 'अचल मेरा कोई' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक संतोषकुमारी भान

५६ 'गढ़ कुण्डार' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक सरलाकुमारी गुर्टू

५७ 'गर्म राख' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक रत्नाकुमारी कौल

५८ 'भारत भारती' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक ननसी गंजू

५९ 'प्रेत और छाया' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक कीर्तिकुमारी गंजू

६० 'कर्मभूमि' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक फूलाकुमारी गंजू

६१ 'प्रेमचन्द के उपन्यासों के नारी पात्र', सन् १९६८, लेखक शामाकुमारी राज़दान

६२ 'माधव की सिन्धिया' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक मीना जलाली

६३ 'निर्मला' एक अध्ययन', सन् १९६८, लेखक सन्तोष सपरू

६४ 'जयद्रथ वध' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक वीना चन्ना

६५ 'नवीनजी की राष्ट्रीय चेतना', सन् १९६८, लेखक फूला बामज़ई

६६ 'उर्मिला' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक वीणा डुल्लू

६७ 'विराटा की पद्मिनी' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक फूला कौल

६८ 'पराया' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक मुन्नीकुमारी रैणा

६६ 'जहाज़ का पंछी' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक उमा गेंद
७० 'द्वापर' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक किश्नीकुमारी त्रिछल
७१ 'निबन्धकार प्रेमचन्द', सन् १९६८, लेखक सरलाकुमारी हक़ीम
७२ 'पंचवटी' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक तोषा वज़ीर
७३ 'लज्जा' तथा इलाचन्द्र जोशी की उपन्यास कला, सन् १९६८, लेखक स्वर्णलता कोहली
७४ 'आखिरी आवाज़' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक शकुन्तला कौल
७५ 'संन्यासी' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक रत्ना कौल
७६ 'नूरजहाँ' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक बसन्ती रैणा
७७ 'अमर वेल' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक जयकिशोरी रैणा
७८ 'नई कहानी : प्रकृति और प्रवृति', सन् १९६८, लेखक शशिशेखर तोषखानी
७९ 'प्राणार्पण' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक ननसीकुमारी कौल
८० 'टूटे कांटे' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक तोषा नहरू
८१ 'पर्दे की रानी' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक प्रेमलता मट्टू
८२ 'यशोधरा' एक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक रत्नाकुमारी रैणा
८३ 'नवीनजी की प्रेमभावना', सन् १९६८, लेखक सरोजिनी कौल
८४ 'आचार्य चाणक्य' एक अध्ययन, सन् १९६९, लेखक सविता महाजन
८५ 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' एक अध्ययन, सन् १९६९, लेखक मनोरमा रैणा
८६ 'माँ' एक अध्ययन, सन् १९६९, लेखक उषा बख्शी
८७ 'मैला आँचल' एक अध्ययन, सन् १९६९, लेखक फूलाकुमारी
८८ 'बोलती प्रतिमा' एक अध्ययन, सन् १९६९, लेखक पुष्पाकुमारी ठुसू
८९ 'धरती अब भी घूम रही है' एक अध्ययन, सन् १९६९, लेखक ललिता कौल
९० 'शिकार' एक अध्ययन, सन् १९६९, लेखक प्राणा राज़दान
९१ 'माखनलाल चतुर्वेदी का राष्ट्रीय-काव्य', सन् १९६९, लेखक विजय काक
९२ 'देशद्रोही' एक अध्ययन, सन् १९६९, लेखक मोहिनी रैणा
९३ 'संघर्ष और समीक्षा' एक अध्ययन, सन् १९६९, लेखक नैन्सीकुमारी दर
९४ 'दो चट्टानें' एक अध्ययन, सन् १९६९, लेखक विजयमोहिनी कौल
९५ बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' एक संक्षिप्त अध्ययन, सन् १९६९, लेखक संतोष गुरखू
९६ 'भारत दुर्दशा' एक अध्ययन, सन् १९७०, लेखक विमला काचरू
९७ 'राग दरबारी' एक अध्ययन, सन् १९७०, लेखक कौशल्या ज़ल्लू
९८ 'प्रसाद के नाटकों में भारतीय संस्कृति', सन् १९७०, लेखक विजय रैणा
९९ 'कश्मीर में हिन्दी कविता', सन् १९७०, लेखक पुष्पलता दर
१०० 'भूले बिसरे चित्र' एक अध्ययन, सन् १९७०, लेखक उषा कौल
१०१ 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' एक अध्ययन, सन् १९७०, लेखक उषा फोतेदार

१०२ 'एक प्रश्न' एक अध्ययन, सन् १९७०, लेखक राजकुमारी मल्ला
१०३ 'वयं रक्षामः' एक अध्ययन, सन् १९७०, लेखक मनमोहिनी रैणा
१०४ 'बून्द और समुद्र' एक अध्ययन, सन् १९७०, लेखक जगमोहिनी कौर गुलाटी
१०५ 'पक्षी और आकाश' एक अध्ययन, सन् १९७०, लेखक रत्ना काचरू
१०६ 'वे जीते कैसे हैं' एक अध्ययन, सन् १९७०, लेखक नैनसी तिक्कू
१०७ रामचरितमानस में तुलसी की सामाजिक मान्यताएँ, सन् १९७१, लेखक विमलाकुमारी वाबू
१०८ 'यशपाल की प्रिय कहानियाँ' एक अध्ययन, सन् १९७१, लेखक फूला राज़दान
१०९ 'पहला राजा' एक अध्ययन, सन् १९७१, लेखक विजयकुमारी दर
११० 'चित्रलेखा' एक अध्ययन, सन् १९७१, लेखक शीला रैणा
१११ संस्मरणकार पंडित श्रीराम शर्मा, सन् १९७१, लेखक विमलाकुमारी मुंशी
११२ जयशंकर प्रसाद के उपन्यासों के नारी पात्र, सन् १९७२, लेखक रेणु रैणा
११३ 'सारा आकाश' एक अध्ययन, सन् १९७२, लेखक नैन्सी रैणा
११४ 'आपका बंटी' एक अध्ययन, सन् १९७२, लेखक सरला कौल
११५ 'अमृत और विष' एक अध्ययन, सन् १९७२, लेखक वीणाकुमारी जलाली
११६ 'आखिरी दांव' एक अध्ययन, सन् १९७२, लेखक विजय काक
११७ 'त्याग का भोग' एक अध्ययन, सन् १९७२, लेखक कृष्णा कौल
११८ 'सीधी सच्ची बातें' एक अध्ययन, सन् १९७२, लेखक सुशीला मिसरी
११९ 'अँधेरे बन्द कमरे' एक अध्ययन, सन् १९७३, लेखक मधु सहगल
१२० 'कनुप्रिया' एक अध्ययन, सन् १९७३, लेखक वीनाकुमारी
१२१ 'श्मशान चम्पा' एक अध्ययन, सन् १९७३, लेखक कुन्दन दर
१२२ 'गुनाहों का देवता' एक अध्ययन, सन् १९७४, लेखक विजयकुमारी वातल
१२३ 'संस्मरण सीकर' एक अध्ययन, सन् १९७४, लेखक कुमारी अनुपमा सूद
१२४ 'कल्याणी' एक अध्ययन, सन् १९७४, लेखक कुमारी निर्मला तिक्कू
१२५ 'अन्तराल' एक अध्ययन, सन् १९७४, लेखक कुमारी विमला पंडिता
१२६ 'बच्चन की कहानियाँ' एक अध्ययन, सन् १९७५, लेखक वीणा धर
१२७ 'कृष्णकली' एक अध्ययन, सन् १९७५, लेखक कविता कौल
१२८ 'अन्धा युग' एक अध्ययन, सन् १९७५, लेखक मुहम्मद परवेज़
१२९ 'काली आँधी' एक अध्ययन, सन् १९७५, लेखक उषा कौल
१३० कहानीकार हरिकृष्ण कौल, सन् १९७७, लेखक कुलदीप सुम्बली
१३१ 'मानस का हंस' एक अध्ययन, सन् १९७७, लेखक आशाकुमारी मटास
१३२ लहरों के राजहंस, सन् १९७७, लेखक शैलजा भारद्वाज
१३३ महारानी दुर्गावती, सन् १९७७, लेखक वैजयन्ती मटास
१३४ 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' एक अध्ययन, सन् १९७७, लेखक निर्मल चौपड़ा

१३५ 'नई पौध' एक अध्ययन, सन् १९७७, लेखक सुरेन्द्र शर्मा
१३६ 'न आने वाला कल' एक अध्ययन, सन् १९७७, लेखक उपेन्द्र रैणा
१३७ 'बेघर' एक अध्ययन, सन् १९७७, लेखक प्यारी भट
१३८ 'आधे अधूरे' एक अध्ययन, सन् १९७७, लेखक सन्तोष सिद्धा
१३९ मन्नू भण्डारी की कहानियाँ, सन् १९७७, लेखक वीणा छाबरा
१४० डोगरी लोकगीत, सन् १९७७, लेखक मधुपुरी
१४१ रुकोगी नहीं राधिका····, सन् १९७७, लेखक सुनीता शर्मा
१४२ 'ये कंगूरे' एक अध्ययन, सन् १९७७, लेखक स्वर्णलता बख्शी
१४३ 'करफ्यू' एक अध्ययन, सन् १९७८, लेखक प्राणनाथ कौल
१४४ 'छोटे-छोटे पक्षी' एक अध्ययन, सन् १९७८, लेखक आशा तिक्कू
१४५ 'देवकी का बेटा' एक अध्ययन, सन् १९७८, लेखक अशोककुमार पंडित
१४६ 'भैरवी' एक समीक्षात्मक अध्ययन, सन् १९७८, लेखक नीलम मैगज़ीन
१४७ 'पांडवी एक विस्मृता' एक अध्ययन, सन् १९७८, लेखक अब्दुल रशीद ग़नाई
१४८ 'इक़बाल शिकवा और जवाबे शिकवा' एक अध्ययन, सन् १९७९, लेखक मुश्ताक अहमद
१४९ 'ठण्डा लोहा' एक अध्ययन, सन् १९७९, लेखक निर्मल बिन्द्रू
१५० 'आज अभी' एक अध्ययन, सन् १९७९, लेखक क्षमा कौल
१५१ 'नारी' एक अध्ययन, सन् १९७९, लेखक सोमनाथ शर्मा
१५२ 'कुलवन्त सिंह विर्क' एक अध्ययन, सन् १९७९, लेखक बलजीत सिंह
१५३ इक़बाल शिकवा और जवाबे शिकवा, सन् १९७९, लेखक मुश्ताक अहमद
१५४ 'पवित्र पापी' एक अध्ययन, सन् १९७९, लेखक हरपाल कौर
१५५ कितनी नावों में कितनी बार, सन् १९७९, लेखक गौरीशंकर डासी
१५६ महीप सिंह की प्रिय कहानियाँ, सन् १९७९, लेखक चन्द्रकिरण सूरी
१५७ यही सच है, सन् १९७९, लेखक प्रमिला भट्ट
१५८ उषा प्रियम्वदा की प्रिय कहानियाँ, सन् १९७९, लेखक संजना कौल
१५९ 'मटियानी' एक अध्ययन, सन् १९७९, लेखक गुलाम मुहम्मद बतकलू
१६० मेरी प्रिय कहानियाँ, सन् १९७९, लेखक उषा हण्डू
१६१ कश्मीरी भाषियों की हिन्दी लिखने तथा बोलने में त्रुटियाँ, सन् १९८०, लेखक जौहरा बी

च—एम० ए० परीक्षा के लिए प्रस्तुत कश्मीरी विषय पर आधारित विशेष-प्रबन्ध :

१ कश्मीरी हिन्दुओं के अन्धविश्वास, रीतियाँ एवं धारणाएँ, सन् १९६२, लेखक कृष्णा कौल

२ पाकशास्त्र सम्बन्धी कश्मीरी शब्दावली, सन् १९६२, लेखक कृष्णाकुमारी खुड्डा
३ हिन्दुओं से सम्बन्धित कश्मीरी शोकगीतों का एक अध्ययन, सन् १९६२, लेखक निर्मला जाला
४ ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली, सन् १९६२, लेखक चमनलाल कौल
५ कश्मीरी लोकोक्तियाँ एक परिचय, सन् १९६२, लेखक शिबन कृष्ण रैणा
६ परमानन्द और उनका सुदामा चरित, सन् १९६२, लेखक जवाहरलाल पंडिता
७ कवि गुलाम अहमद महजूर और उनका काव्य, सन् १९६२, लेखक जवाहरलाल पंडिता
८ कश्मीर साहित्य में कवयित्रियों का योगदान, सन् १९६२, लेखक त्रिभुवननाथ कौल
९ श्री दिवाकर प्रकाशराम और उनका रामावतार चरित, सन् १९६३, लेखक ओंकारनाथ कौल
१० 'रसूलमीर' एक अध्ययन, सन् १९६३, लेखक सोमनाथ रैणा
११ 'श्री कृष्ण जू राज़दान' एक अध्ययन, सन् १९६३, लेखक हृदयनाथ रैणा
१२ 'ख्वाजा मक़बूलशाह क्रालवारी' एक अध्ययन, सन् १९६४, लेखक राजदुलारी दर
१३ अब्दुल अहद डार 'आज़ाद' एक अध्ययन, सन् १९६४, लेखक अमरनाथ कौल
१४ 'महमूद गामी' एक अध्ययन, सन् १९६४, लेखक श्यामा मुकू
१५ कश्मीरी साहित्य का आधुनिक काल, सन् १९६४, लेखक दुलारी वल्ली
१६ 'अब्दुल वहाब परे' एक अध्ययन, सन् १९६४, लेखक राजदुलारी डुल्लू
१७ कश्मीरी सूफी काव्य की विशेषताएँ, सन् १९६५, लेखक नन्सी रैणा
१८ रामायण-ए-शर्मा का अध्ययन, सन् १९६५, लेखक सरोजिनी हण्डू
१९ 'विष्णुप्रताप रामायण' एक अध्ययन, सन् १९६६, लेखक विजयमोहिनी कौल
२० 'रूपभवानी' एक अध्ययन, सन् १९६६, लेखक सरलाकुमारी दर
२१ वासुदेव रेह और उनका काव्य, सन् १९७४, लेखक कुमारी मुन्नी भट्ट

छ—कश्मीरी तथा हिन्दी के तुलनात्मक विषय पर आधारित विशेष-प्रबन्ध :

१ महजूर और बालकृष्ण नवीन का तुलनात्मक अध्ययन, सन् १९६३, लेखक भूषण-लाल कौल
२ कश्मीरी लोकगीतों और हिन्दी लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन, सन् १९६३, लेखक बन्सीलाल पंडित
३ महाकवि सूरदास परमानन्द का तुलनात्मक अध्ययन, सन् १९६४, लेखक विमला कुमारी मिस्री
४ लल्लेश्वरी और कबीर के दार्शनिक विचार का एक अध्ययन, सन् १९६४, लेखक रानी कौल

५ महादेवी वर्मा और हव्वाखातून का तुलनात्मक अध्ययन, सन् १९६४, लेखक महाराजकृष्ण पेशन

६ बिहारी और रसुलमीर का तुलनात्मक अध्ययन, सन् १९६४, लेखक शारिका वाम्ज़ई

७ परमानन्द और नरोत्तमस्वामी के सुदामाचरित का तुलनात्मक अध्ययन, सन् १९६६, लेखक कुसुम हण्डू

८ महजूर एवं नवीन की शृङ्गारभावना, सन् १९७२, लेखक राजकृष्ण कौल

ज—लद्दाखी तथा हिन्दी के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित विशेष-प्रबन्ध :

१ लद्दाखी तथा हिन्दी के लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक दुर्जेय छेवांग

झ—पंजाबी तथा हिन्दी के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित विशेष-प्रबन्ध :

१ पंजाबी एवं हिन्दी लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन, सन् १९६९, लेखक विजयलक्ष्मी सेठी

ङ—संस्कृत तथा हिन्दी के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित विशेष-प्रबन्ध :

१ वाल्मीकि रामायण तथा मानस के नारी पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन, सन् १९६८, लेखक त्रिलोकीनाथ गंजू

• • •

अग्नि

डा० रमेशकुमार शर्मा
आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी तथा संस्कृत विभाग कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर (कश्मीर)

*

विकासवादी विद्वान कहते हैं कि आदि-मानव का परिचय अग्नि से आकस्मिक रूप से हुआ होगा। अचानक बिजली गिरने से वृक्ष आदि में आग लग कर प्रकट हुई होगी, या ज्वालामुखी के लावे से आग की गर्मी का अनुभव उसे हुआ होगा, अथवा बाँस आदि की रगड़ से दावाग्नि ने उत्पन्न होकर उसे अपनी गर्मी से परिचित कराया होगा। यह भी हो सकता है कि फेंक कर मारे गए या अचानक गिरे हुए पत्थरों से निकली चिनगारी से शुष्क घासादि के जलने पर आदि-मानव को अग्नि की उष्णता का परिचय मिला हो। अग्नि के ताप से परिचित होकर किसी प्रकार आकस्मिक रूप से आदि-मानव ने जले हुए माँस या अन्य भुने पदार्थ को भूख के कारण चाखा होगा और यह अनुभव किया होगा कि जलने-भुनने से खाद्य वस्तु का स्वाद घटता नहीं अपितु बढ़ ही जाता है और वह खाने-चबाने में आसान बन जाती है; इसके बाद गुफाओं में अग्नि को सुरक्षित रूप से रखने का प्रयत्न आदि-मानव ने किया होगा। नृतत्त्व शास्त्री मानते हैं कि घुमक्कड़ आदि-मानवों के दलों में कुछ व्यक्ति प्रज्वलित अग्नि को सुरक्षित रूप से साथ ले चलने का ही कार्य करते थे। एकवार बुझ जाने पर ऊर्जा, ताप, भोजन, प्रकाश तथा हिंस्र पशुओं से सुरक्षा प्रदान करने वाली अग्नि को पुनः सुलगाना कठिन ही होता होगा इसीलिए अग्नि की निरन्तर देखभाल और ईंधन डाल-डालकर उसे निरन्तर 'सचेत' रखना एक प्रकार का कर्मकाण्ड बन गया। अग्नि में ईंधन डालकर उसे प्रज्वलित रखना, उसे सन्तुष्ट रखने के समान रहा होगा। भोजन पकाने वाली, प्रकाश ताप एवं सुरक्षा प्रदान करने वाली, अग्नि के चारों ओर बैठे लोगों में परिवार की भावना और उस परिवार को एकत्रित करने और सुरक्षित रखने वाली अग्नि के प्रति पूज्य-भावना सहज ही, स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो गई होगी। जो हम खाते हैं उसका एक भाग अपने इस पूज्य अग्नि-देवता को देना चाहिए यह भाव सहज ही मानव के मन में उत्पन्न हुआ होगा, और यहीं से 'यज्ञ' की परम्परा आरम्भ होती है। ताप देने वाले, आदि-देवता भगवान सविता अर्थात् सूर्य के, धरा पर उतरे हुए रूप इस अग्नि-देवता के प्रति एक प्रेम, श्रद्धा तथा भय का भाव मानव के मन में सहज ही जाग उठा क्योंकि 'भय बिनु होइ न प्रीति'। मानव ने अग्नि-देवता के पोषक रूप के साथ-साथ दावाग्नि आदि के रूप में अग्नि के विनाशक-पीड़क रूप को भी देखा।

भारत की वैदिक संस्कृति, ईजिप्ट की प्राचीन संस्कृति, पारसी एवं यहूदी संस्कृतियों

में अग्नि के पूज्य रूप के दर्शन होते हैं और ये प्राचीनतम संस्कृतियाँ हैं। ग्रीक-रोमन संस्कृतियों में अग्नि को प्रोमेथियस द्वारा देवताओं के यहाँ से चुराया जाना भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है कि अग्नि-देवताओं के पास होती थी या जिनके पास अग्नि होती थी वे देवता होते थे। भस्मीकृत हव्य (Burnt offering) प्राचीनकाल में मध्यपूर्व के यहूदी करते थे इसके ऐतिहासिक प्रमाण हैं।

प्राचीन भारत में अग्नि उत्पन्न करने के अनेक साधनों में से 'अरणी-मथानी' का यन्त्र सर्वाधिक पवित्र माना जाता था। इसका प्रयोग केवल शुष्क एवं ग्रीष्म प्रदेश तथा काल में हो पाता था इसलिए इससे उत्पन्न अग्नि की वर्षा में रक्षा करना आवश्यक हो जाता था। यज्ञ के लिए 'अरणी-मथानी' से अग्नि उत्पन्न करना एक विशेष पवित्र कर्म माना जाता था।

कालान्तर में मानव ने अग्नि के अनेक भिन्न-भिन्न प्रयोग आरम्भ किए और उसके अनुसार सर्वदा पवित्र रहने वाली अग्नि के भिन्न-भिन्न नाम भी रखे गए जो कि उसके विलग रूपों या भाव-मुद्राओं (अर्थात् Moods) पर आधारित थे। ज़ातवेद, अग्नि, अनल, वैश्वानर, विष्णु, यज्ञ, सन्त, धूममुख, धूमकेतु, पावक आदि अग्नि के नाम इसी प्रकार विकसित हुए हैं। अग्नि वास्तव में ऊर्जा एवं प्रकाश का मूल स्रोत है, जिसे उत्पन्न करने और जिसकी सुरक्षा करने में आदिकाल से आज तक मानव-सभ्यता लगी हुई है। सूर्य से लकड़ी जलाकर, पत्ते जलाकर, कण्डों से, कोयलों से, खनिज एवं वनस्पति तेलों से, विजली से, जैसे हो वैसे अग्नि, प्रकाश एवं ऊर्जा मानव के अस्तित्व के लिए परमावश्यक है। वास्तव में सभ्यता का विकास ऊर्जा के स्रोतों का, अग्नि-ताप उत्पन्न करने का विकास मात्र है।

पाक-यज्ञ की (अर्थात् भोजन बनाने की) अग्नि, विभिन्न प्रकार के यज्ञों की अग्नि तथा मसान पावक में हिन्दुओं ने अग्नि के विभिन्न भेद किए। शवदाह करने वाली चिता की अग्नि का अन्य कोई प्रयोग नहीं हो सकता यह मानकर उसमें किंचित अपवित्रता का भाव आरोपित करते हुए भी उसके आदर में कमी नहीं हुई क्योंकि वही तो स्वर्ग (या जिन्हें नर्क जाना हो उनके लिए नर्क) जाने-लेजाने का साधन-वाहन था। जठराग्नि, बड़वाग्नि तथा दावाग्नि के इन तीन भेदों में प्रथम दो सूक्ष्म एवं अमूर्त हैं और विशेष-विशेष प्रकार की ऊर्जा के प्रतीक हैं। ईंधन के आधार पर भी प्राचीन काल में अग्नि के भेद किए जाते थे, और इसी कारण यज्ञों की अग्नि के लिए 'धव' आदि की पवित्र लकड़ी का प्रयोग होता था। गोबर के कण्डे की अग्नि, धान के छिलकों की अग्नि, रुई में लगने वाली आग, फूंस की आग, आँधी की आग आदि के भेद उसके आधार (ईंधन) के अनुसार तथा उसकी प्रवृत्ति (ज्वलन-शीलता) पर आधारित हैं।

अब हम अग्नि के मनोवैज्ञानिक, भावात्मक अथवा प्रतीकात्मक रूप का विवेचन करेंगे। कठोपनिषत् में 'त्रिनाचिकेत' अग्नि का संकेत है। नचिकेता का अर्थ है, 'न जानने वाला' और जिज्ञासु। वाजश्रवस ऋषि का पुत्र नचिकेता यमाचार्य के पास मृत्यु के रहस्य को जानने के लिए जाता है। यमाचार्य परमगुरु के प्रतीक हैं, उन्होंने नचिकेता को सफल-जीवन एवं मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का उपाय बताया जिसका सार है त्रिनाचिकेत अग्नि का साधन। कठोपनिषत् में कहा है—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धि त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यु।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमांस् शान्तिमत्यन्तमेति ॥[1]

१. प्रथम वल्ली, श्लोक १७।

ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यस्त इन चारों आश्रमों के मध्य की तीन सन्धियों की तीन अग्निओं का साधन करने पर यहाँ बल दिया गया है। इस क्रम से पार होना आवश्यक है। असमय का अनावश्यक वैराग्य उसी प्रकार अनुचित है, अहितकर है, जैसे बुढ़ापे की भोग-लालसा। यही वैदिक-हिन्दू मान्यता का सार है। योगियों में पंचाग्नि सेवन तथा श्मशान अग्नि का साधना, पेड़ से उलटे लटक कर नीचे जलने वाली आग का धुंआ पीना, बाह्याचार के उदाहरण हैं; तथा 'दशम द्वार' पार करके स्फोट के बाद ज्योतिर्दर्शन करना आन्तरिक प्रकाश की प्राप्ति के सूचक हैं। इनमें भी बाह्य अग्नि मात्र साधन है, साध्य आन्तरिक प्रकाश ही है। अग्नि के, प्रकाश के, अभाव से उत्पन्न होने वाला अन्धकार अज्ञान का प्रतीक है और भय एवं दुख का कारण है। अग्नि से उत्पन्न होने वाला प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है तथा सुख एवं आनन्द का कारण है, और वही जीवन का साध्य है, परम-प्राप्य है। अग्नि तथा प्रकाश के बिना कोई साधना, कोई उपासना सम्भव नहीं है। दग्ध होना, जलना, तपना, सिकना, झुलसना ये केवल बाह्य तथा शारीरिक प्रक्रियाएँ ही नहीं हैं, आन्तरिक भी होती हैं भावात्मक एवं मनोवैज्ञानिक भी हैं। इसीलिए, ईर्ष्या, विरह, क्रोध और वैर तथा चिन्ता में व्यक्ति का जलना माना गया है, और यह भी माना गया है कि यह दाह व्यक्ति को अन्धा अर्थात् मोहित, भ्रमित एवं अविवेकी बना देता है। इसी कारण क्रोधान्ध का मुहावरा बना है। अक्रोधी सबसे बड़ा योगी एवं सन्त माना गया है, यद्यपि उचित क्रोध जिसे मन्यु कहते हैं समाज का साधक है, इसीलिए बालकों के सुमन्यु, उपमन्यु, अभिमन्यु आदि नाम रखे जाते हैं। इस भीतरी दाह को वश में करना, उसे शीतल करना, योगी एवं साधक का सबसे बड़ा साध्य होता है। इन्द्रियों से अनुराग, उससे इच्छा और उसकी अपूर्ति पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मूढ़ता और बुद्धिनाश होता है और अन्त में व्यक्ति नष्ट हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान ने कहा है—

ध्यायते विषयान्पुसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥[1]

यह आन्तरिक अग्नि जीवन भर ही नहीं जन्म-जन्मान्तरों तक जलाती है और बाह्य-दाह से अधिक भयानक होती है, इसीलिए कहा गया है कि चिता से भी चिन्ता की आग 'गरीयसी' है, अधिक दाहक है क्योंकि चिता मरे को जलाती है परन्तु चिन्ताग्नि जीवित को जलाती है और सोते-जागते निरन्तर जलाती है। अग्नि के स्थूल-सूक्ष्म दोनों रूप दो कार्य सम्पन्न करते हैं। उचित एवं नियंत्रित रूप में उसकी उपासना एवं उसका प्रयोग करने से वह हितकारी, लाभकारी एवं सहायक बन जाती है, भोजन, प्रकाश, ऊर्जा आदि देती है। परन्तु अनियंत्रित एवं अनुचित प्रयोग करने पर विनाशक-दाहक एवं अहितकर हो जाती है, इसीलिए अग्नि को सर्वदा आदर एवं भय से देखना चाहिए, उसके साथ खेलना नहीं चाहिए। 'आग से खेलना' वास्तव में 'आग से खेलने' के समान है।

अग्नि के प्रति समादर की भावना भारतीय मनीषा का आधार है। 'ईशावास्योपनिषत्' में कहा है—

१. अ० २, श्लोक ६२-६३।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ।।[1]

अर्थात्, हे अग्ने ! हे देव ! तुम सब प्रकार के कर्मों को जानते हो । तुम हमें उन्नति के लिए ऐसे मार्ग पर ले चलो जो सुपथ हो । जो कुटिल पाप-मार्ग है उसे हमसे अन्तरात्मा का युद्ध कराकर पृथक करो । हम बार-बार तुम्हें नमस्कार करते हैं । सम्पूर्ण यज्ञ-कर्म का सार तथा उद्देश्य इस श्लोक में निहित है । जैसा मैंने आरम्भ में कहा है, यज्ञ तथा हवन में जातवेद अर्थात् सारे ज्ञान के ज्ञाता, एवं उसके स्रोत से उत्पन्न अग्नि-देवता को उनका भाग दिया जाता है और कहा जाता है—

इदम् अग्नये जातवेदस्य इदन्नमम् ।

"तेरा तुझकूँ सौंपता क्या लागै है मोर" या कहिए "त्वदीयवस्तु गोविन्दं तुभ्यमेव समर्पये" का इससे उत्तम अन्य उदाहरण नहीं मिलता । त्याग, लोकहित, वातावरण एवं परिवेश की शुद्धता, व्यक्ति तथा समाज के समन्वित हित के साथ-साथ तन-मन-मस्तिष्क की पवित्रता का सर्वोत्तम साधन यज्ञ है और उसका आधार अग्नि-देव हैं । अग्नि-देव जलकर और जलाकर जो छोड़ते हैं वह राख उनकी 'विभूति' है, वह अग्नि-देव का ऐश्वर्य है। इसीलिए, हे ! अग्नि-देव हम तुम्हें बारम्बार नमस्कार करते हैं ।

• • •

१. श्लोक १८ ।

बीसवीं शताब्दी की हिन्दी कविता में प्रतीक तथा बिम्ब-विधान

डा० मुहम्मद अयूबखाँ 'प्रेमी'
एम० ए० (हिन्दी तथा संस्कृत), पीएच० डी०, डी० लिट्

*

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक की हिन्दी कविता में कला-बोध और अन्तश्चैतन्य के सामंजस्य के साथ-साथ नवीन निकषों की खोज और नये सौन्दर्य उपादानों के सर्जन की क्षमता प्रकट हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि छायावादी कला-बोध अपने नवीन भाव-वैचित्र्य की व्यंजना करता हुआ एक रोमानी संसार में मानव-मन को रस-विभोर कर देता है। लेकिन शीघ्र ही इस शताव्दी के चतुर्थ दशक में इस कला-बोध के विरोध में प्रगतिवाद खड़ा हो गया। उसमें जब वस्तुनिष्ठता आई तो रोमानी रंग फीका पड़ने लगा। रूपवादी आधार के विरोध में कवि अपनी कला का अन्वेषक न होकर केवल वस्तु का प्रचारक हो गया। अतः कला सिसकने लगी क्योंकि विचारों ने उसके सौन्दर्य और विशेषकर भाव-सौन्दर्य को अवरुद्ध कर दिया था। इसकी प्रतिक्रिया में पंचक दशक में प्रयोगवादी दृष्टि रूपवादी प्रयोगों के रूप में उभर कर आई। इस कविता में विचित्र-विचित्र प्रयोग हुए और ऐसा लगा कि कला-बोध की सहजता ही समाप्त होने जा रही है। लेकिन छठें दशक में नयी कविता ने उसका उद्धार करते हुए कला-बोध के विषयानुरूप प्रयोग पर बल दिया। यहीं रचना-धर्मिता का प्रश्न उठता है और कवि अपनी चेतना के अस्तित्व के लिए कर्त्ता अर्थात् सर्जकत्व प्रमाणित करने लगता है। उसके भीतर जो स्रष्टा है उसकी तलाश विज्ञानयुग की बौद्धिकता और आधुनिकता के तकाज़े के रूप में औचित्य को सिद्ध करती है। नयी कविता के निकष एवं मूल्य विश्वव्यापी स्तर पर रचे गये हैं और अनुभूति की प्रामाणिकता के साथ-साथ इन कला मूल्यों के सामरस्य को उसी व्यापक स्तर पर परखा भी गया है।

इस शताव्दी के सप्तम दशक में साठोत्तरी कविता के विभिन्न नामों का शोर सुनाई देता है। नई कविता में मोहभंग (डिसइल्यूज़नमेंट) पूर्णरूप से नहीं हुआ था लेकिन अकविता अतिकविता, नवगीत, अस्वीकृत कविता, विद्रोही पीढ़ी, क्रुद्ध पीढ़ी, भूखी पीढ़ी, बीट पीढ़ी, ठोस कविता, युयुत्सावादी कविता, निर्दिशायामी कविता, अगली कविता, सहज कविता, सनातन सूर्योदयी नूतन कविता और विचार कविता आदि में मोहभंग की तीव्र अनुभूति के साथ-साथ कला निकषों और मूल्यों की अस्वीकृति सुनाई देती है। लेकिन अकविता से विचार

कविता तक जो भी स्वर सुनाई देते हैं उनका बीजांकुर नयी कविता की ज़मीन में ही हुआ है। साठोत्तरी कविता में जो असंतोष अस्वीकृति और विद्रोह का स्वर गूँजा है वह क़तई मुक्तिबोध के स्वर से विच्छिन्न या भिन्न नहीं माना जा सकता है। अन्तर इतना ही है कि साठोत्तरी कविता में जीवन की मूर्तियाँ टूटती हुई स्वर की तल्ख़ी, व्यथा और आक्रोश की ध्वनि बिखेर देती हैं लेकिन नयी कविता में समग्र जीवन की प्रामाणिक अनुभूतियों को जीते जागते परिवेश में सहेजा गया है। साठोत्तरी कविता में भविष्य के सपने टूट जाने से जीवन तनाव और संत्रास से आन्दोलित हो उठा और फिर आक्रोश तथा नपुंसकता के साथ बुझकर एक निरभ्र अंधकार में डूबता हुआ प्रतीत होने लगा। इसी बीच अमरीका के बीट कवि एलेन गिंसबर्ग के आगमन से नई पीढ़ी को अघोरी जीवन-दर्शन प्राप्त हो गया। श्याम परमार सौमित्रमोहन, जगदीश चतुर्वेदी, श्रीराम शुक्ल, मणिका मोहिनी, गंगाप्रसाद विमल, निर्भय मल्लिक, लीलाधर जगूड़ी, अचला शर्मा आदि कवियों में जो यौन प्रतीकों का प्रयोग हुआ है वह अघोरी जीवन-दर्शन को ही द्योतित करता है। लेकिन नयी कविता में प्रामाणिक अनुभूतियों को प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से सार्थकता प्रदान की गई है। इस आधार पर छायावादी कविता और नयी कविता की सौन्दर्यानुभूति के उदात्तीकरण में साम्य दिखाई देता है।

प्रतीक-विधान—जयशंकर प्रसाद ने निराला जी की 'गीतिका' में दो शब्द लिखते समय यह धारणा व्यक्त की है कि कविता में प्रतीकों का सम्बन्ध उस रहस्यानुभूति से है जो युग के अनुसार अपने लिए विभिन्न आधार चुना करती है।[१] प्रायः बहुत से लोग इस रहस्यमयता को नहीं समझ पाते इसलिए वे प्रतीकों का अर्थ भी उनके उपयुक्त सन्दर्भ में नहीं ग्रहण कर पाते हैं। फ्रांसीसी कवि मलार्मे के प्रतीक लोगों को प्रायः दुरूह प्रतीत होते थे लेकिन जिन लोगों में उसके रहस्यमय अवगुंठन को उठाने की शक्ति होती थी वे उसके प्रतीकों से आनन्द प्राप्त करते थे। अतः जब प्रतीक समझ में आ जाते हैं तो वही आनन्द देते हैं जिसे मलार्मे कवि दृष्टि द्वारा स्वयं अनुभव किया करता था।[२] कठिनाई का एक कारण यह भी है कि प्रायः दार्शनिक या रहस्यवादी कवि प्रकृति का चित्रण करते समय द्वयर्थक बात करता है। प्रायः छायावादी युग की दार्शनिक चेतना इन्हीं द्वयर्थक प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त हुई है। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा की कविताओं में यह द्वयर्थकता अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि विलियम ब्लेक के आधार पर प्रकट हुई है। ब्लेक के लिए प्रत्यक्ष प्रकृति पृष्ठभूमि में विद्यमान किसी अन्य परोक्ष रहस्यमयी सत्ता के प्रतीक के रूप में प्रतीत होती है। अतः वह अपरोक्ष प्रकृति को परोक्ष शक्ति की व्यंजना का माध्यम बनाता है—"He says two fold always for every thing was of Value to Blake as a symbol, as a medium for expressing a still greater thing behind it."[3] अतः दार्शनिक या रहस्यवादी चेतना को अभिव्यक्ति देने के लिए छायावादी कवियों ने प्रतीकों का माध्यम चुना

१. **आलम्बन के प्रतीक उन्हीं के लिए अस्पष्ट होंगे, जिन्होंने यह नहीं समझा है कि रहस्यमयी अनुभूति, युग के अनुसार अपने लिए विभिन्न आधार चुना करती है।**
—प्रसाद, गीतिका, निराला, भारतीय भण्डार, प्रयाग, पृ० २।

2. For this reason Mallarme's poetry is more difficult than any other great poetry of the world......But when the symbols are intelligible, as they often are, they Convey as no other method could, the transcendental joy which Mallarme found in his poetical vision. —The Heritage of Symbolism, C. M. Bowra, Page 7 (Introduction)

3. Mysticism in English Literature. Caroline, F. E. Spurgeon, Page 138.

है। पंतजी ने प्रतीक-सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए प्रतीक को अव्यक्त की अभिव्यंजना का माध्यम ही माना है—

जो अव्यक्त रहा अन्तर में,
मुक्त, अगीत रहा ध्वनि स्वर में,
उसे प्रतीकों ही में बिम्बित
रहने दो, रहने दो।[1]

छायावादी काव्य में प्रतीक-विधान का रूप आध्यात्मिक अर्थवत्ता के साथ ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष पर आधारित है। यह मान्यता हीगेल की मान्यता से साम्य रखती है। हीगेल के अनुसार उत्कृष्ट प्रतीकों में आध्यात्मिक संकेत और ऐन्द्रिय निवेदन के बीच समतोल रहता है अथवा आध्यात्मिक संकेत की अधिकता रहती है।[2] प्रसाद के 'कामायनी' में शैवदर्शन से सम्बन्धित अनेक प्रतीकात्मक प्रयोग इसी मान्यता पर आधृत प्रतीत होते हैं। कामायनी के अतिरिक्त 'झरना' में अनेक ऐसे गीत हैं जहाँ आध्यात्मिक संकेत देने वाली प्रतीक-योजना मिलती है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

शिशिर करणों से लदी हुई कमली के भीगे हैं सब तार।
चलता है पश्चिम का मारुत लेकर शीतलता का भार॥
+ + +
सुप्रभात मेरा भी होवे इस रजनी का दुःख अपार।
मिट जावे जो तुमको देखूं, खोलो प्रियतम खोलो द्वार॥[3]

यहाँ पर 'कमली' मायामय जीवात्मा के शरीर का प्रतीक है। पश्चिम का मारुत जागतिक कष्टों का प्रतीक है और सुप्रभात ज्ञान की स्थिति को सूचित करता है और रजनी सांसारिक जीवन का प्रतीक है। निराला जी की प्रसिद्ध कविता 'तुम और मैं' आध्यात्मिक तथा रहस्यात्मक प्रतीकों की संसृष्टि एक अपूर्व सौन्दर्य के साथ करती है। इस कविता में 'तुम' अव्यक्त ब्रह्म और 'मैं' जीवात्मा का प्रतीक है। आध्यात्मिक अद्वैत की अभिव्यंजना इन प्रतीकों के आधार पर बहुत ही कलात्मक प्रतीत होती है—

तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल गति सुरसरिता,
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कांत कामिनी कविता।[4]

कहीं-कहीं निराला जी मधुर अनुभूति को ऐन्द्रिक बोध के साथ प्रतीकों में ढाल देते हैं—

तुम पथिक दूर के श्रान्त और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भव-सागर दुस्तार, पार जाने की मैं अभिलाषा।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्तपुरुष मैं प्रकृति-प्रेम जंजीर।
तुम आशा के मधुमास, और मैं पिक कल कूजन तान।
तुम मदन पंच शरहस्त, और मैं हूँ मुग्धा अनजान॥[5]

१. पंत—वाणी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८, पृ० ४१।
2. Hegel, the Philosophy of Fine Art. London, 1920, Page 30.
३. प्रसाद—झरना (खोलो द्वार), पृ० २१।
४. निराला—अपरा (तुम और मैं), पृ० ५८।
५. वही, पृ० ५९।

निराला जी ने 'राम की शक्तिपूजा' कविता में साधनामूलक प्रतीकों का प्रयोग किया है। ये प्रतीक सिद्धों और सन्तों की कविता में प्रचुरता के साथ प्रयुक्त हुए हैं। निराला ने योग-साधना के गुह्य प्रतीकों का प्रयोग इस प्रकार किया है—

क्रम क्रम से हुए पार राघव के पंच दिवस;
चक्र से चक्र मन चढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस।
..

लेकिन पंतजी के काव्य में अधिकतर रहस्यात्मक प्रतीकों की विविधता मिलती है। रहस्यात्मक प्रतीकों में दृश्य वस्तुओं में अदृश्य संकेतों अथवा प्रत्यक्ष में परोक्ष संकेतों का आधान किया जाता है। निम्नलिखित उद्धरण में पन्त ने 'मेरे सुकुमार', 'लहरों के हाथ' और 'उस पार' के द्वारा अदृश्य संकेत प्रस्तुत किया है—

कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर मुझको उस पार।[१]

महादेवी वर्मा के प्रतीक मुख्य रूप से रहस्यात्मक हैं लेकिन वे आध्यात्मिक प्रतीकों में अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक रूप प्रस्तुत करती हैं। वे दीपक को साधना के प्रतीक में, दर्पण को माया के प्रतीक में, पिंजर को बन्धन के प्रतीक में और 'कालासिन्धु' को पापपूर्ण संसार के प्रतीक में बहुत बार प्रयुक्त करती दिखाई देती हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित प्रतीक देखिये जिसका आधार आध्यात्मिक है।

टूट गया वह दर्पण निर्मम !
उसमें हँस दी मेरी छाया,
मुझमें रोदी ममता माया,
अश्रु हास ने विश्व सजाया,
रहे खेलते आँख मिचौनी
प्रिय ! जिसके परदे में 'मैं', 'तुम'।[२]

या

तोड़कर वह मुकुर जिसमें रूप करता लास
पूछता आधार क्या प्रतिबिम्ब का आवास ?[३]

नयी कविता में कहीं-कहीं तो सांगरूपक के आधार पर प्रतीक-योजना दिखाई देती है। सर्वेश्वर की प्रतीक-योजना द्रष्टव्य है—

तुम एक यात्रा हो
जहाँ कुछ छूटने का अर्थ
कुछ मिलना है,

१. पंत—देखिये छायावाद का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन, डा० कुमार विमल, पृ० २६५।
२. महादेवी वर्मा—आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६३।
३. महादेवी वर्मा—रश्मि, साहित्य भवन, प्रयाग, १९४४, पृ० २९।

जहाँ हर थकान
एक नयी स्फूर्ति है,
जहाँ परिवर्तन का अर्थ
मेरा खुद का बदलना है
जहाँ हर अनुभूति
ईश्वर की मूर्ति है।[1]

अज्ञेय जी ने प्रतीक-योजना की एक नयी भंगिमा प्रस्तुत की है जहाँ आध्यात्मिक तथा रहस्यात्मक संकेत मिलते हैं और साथ ही एक व्यापक संवेदना को अभिव्यक्त करने की क्षमता इन प्रतीकों में है—

मेरे कोटि-कोटि लहरों से मँजे एकमात्र मोती
ओ विश्व प्रतिम,
अब तू इस कृती सीप को अपने में समेट ले,
यह परिदृश्य सोख ले।
स्वाति बूँद ! चातक को आत्मलीन तू कर ले !
ओ वरिष्ठ ! ओ वर दे ! वर ले ![2]

यहाँ 'कृती सीप' कवि की संवेदना का, कोटि-कोटि लहरें जीवनानुभूतियों तथा मोती कलानुभूति के अभिव्यक्त रूप का प्रतीक है। इसी प्रकार उनकी प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' में प्रतीकों का प्रयोग नवीनता के साथ हुआ है। अज्ञेय ने दार्शनिक चेतना की अभिव्यक्ति के लिए मनोविश्लेषणवादी प्रतीकों की रचना की है। कहीं-कहीं युग के आदिम बिम्ब या भाव प्रतिमारूप (Archetype) भी मिलते हैं। सेतु, नदी के द्वीप, शंख और सीपी इत्यादि के प्रतीक बिम्बात्मक रूप में उभरे हैं। वे सागर तट की सीपियों के द्वारा आधुनिक मानव-व्यक्तित्व का ऐसा ही प्रतीकात्मक रूप यहाँ द्रष्टव्य है—

ये टूटी हुई रंगीन :
इन्द्रधनु रौंदे हुए ये
रेत से मिस चले से भी स्निग्ध, रंगारंग
जैसे प्यार।[3]

मुक्तिबोध के यहाँ प्रतीकों का मनोवैज्ञानिक प्रयोग हुआ है। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' शीर्षक कविता में करफ्यू को गगन पर लगाया गया है, टेढ़े मुँह वाले चाँद की रोशनी ऐयारी करती है। उसकी ऐयारी के द्वारा मुक्तिबोध समाज का पूरा चित्र एक यथार्थवादी कलाकार के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ हड़ताली पोस्टर, उसकी व्याख्या, चिमगादड़, भयभीत पक्षी, गुप्तचरों की प्रतिनिधि बिल्ली, गाँधी के पुतले पर बैठा हुआ घुग्घू, चौराहे पर खड़ी हुई भैरों की सिन्दूरी गेरुई मूर्ति, तजुर्बे का ताबूत बरगद, हनुमान चालीसा पढ़ता हुआ आसमान बाबा संस्कृति के कोहरीले धुएँ से भूतों के गोल-गोल मटके से चेहरे इत्यादि प्रतीकों के द्वारा प्रगति शीलता और प्रतिक्रियावादी तत्त्वों की झलक प्रस्तुत है। बरगद का वृक्ष जीवन

१. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना—एक सूनी नाव, पृ० ३३।
२. अज्ञेय—कितनी नावों में कितनी बार (ओनिस्संगममेतर), पृ० २५।
३. अज्ञेय—इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ० ९६।

के अनुभवों का प्रतीक है जिसे इतिहासबोध भी कह सकते हैं।[1] इसी प्रकार 'ब्रह्मराक्षस' में कवि ने शहर के छोर पर, खण्डहर के बीच परित्यक्त सूनी बावड़ी में स्नान करने वाले ब्रह्मराक्षस के प्रतीक के द्वारा आधुनिक मानव को नग्न कर दिया है। अपने अहं के बोझ से दबा हुआ ब्रह्मराक्षस जब कभी बावड़ी के जल में सूर्य की किरणों का प्रतिबिम्ब देखता है तो उसे लगता है जैसे सूर्य झुककर नमस्ते कर रहा हो—

किंतु गहरी बावड़ी की भीतरी दीवार पर
तिरछी गिरी रवि-रश्मि के
उड़ते हुए परमाणु जब तल तक पहुँचते हैं कभी,
तब ब्रह्मराक्षस समझता है
सूर्य ने झुककर नमस्ते कर दिया।[2]

यहाँ जल चेतना का प्रतीक है, ब्रह्मराक्षस नग्न तथा विद्रूप शक्ति का प्रतीक है। युग के अनुसार सामूहिक अचेतन (Collective unconscious) की भाव-प्रतिमाओं या आदिम विम्बों (Archetypes) का ज्ञान या मन में प्रवेश व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से बहुत जरूरी होता है। मनुष्य के लिए इन भाव-प्रतिमाओं की चेतना होना व्यवित के लिए उपयोगी है।

मूर्त-अमूर्त तथा विम्ब-विधान—सहज तथा उत्तम कविता की भाषा चित्रमय अथवा मूर्त हुआ करती है। यदि भाषा में यह गुण न हो तो भाव-व्यंजना बहुत ही अग्राह्य हो जाती है। अमूर्त भावों और विचारों को संगीत तथा चित्रमयता सुग्राह्य बनाने के साधन हैं। कारण यह है कि चित्रकला में दृश्य-विम्बों की प्रधानता होती है और विम्ब-विधान (इमेजरी) में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और श्रवण इत्यादि सभी ऐन्द्रिक अनुभवों में मन को प्रभावित करने की क्षमता होती है।[3] कवि विम्ब-विधान के द्वारा ऐन्द्रिक अनुभवों को काव्य में ज्यों का त्यों अवतरित नहीं करता है क्योंकि कवि का जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण होता है उसका प्रतिविम्ब पड़ने से उस यथा-तथ्य-चित्रण में भी विशिष्टता आ जाती है। लेकिन इस विशिष्टता के साथ कविता में शाश्वत सत्य (इटरनल ट्रुथ) का होना आवश्यक है तभी जीवन

१. भैरों प्रगतिशील—विद्रोहात्मक शक्तियों का प्रतीक है इसीलिए बरगद इतिहास बोध से बहस करता है—

भैरों और बरगद में बहस खड़ी हुई है
जोरदार जिरह कि कितना समय लगेगा
सुबह होगी कब और
मुश्किल होगी दूर कब
समय का कण-कण
गगन की कालिमा से
बूंद-बूंद चु रहा
तड़ित उजाला बना

—चांद का मुंह टेढ़ा है, पृ० ४६।

२. कवि—जनवरी १९५७, पृ० ५४।

3. To Phychologists and to many critics imagery in poetry is the expression of sense—experience channelled through sight, hearing, small, touch and taste, through these channels impressed upon the mind and selforth in verse in such fashion as to recall as vividly and faithfully as possible the original sensations.

—Fogle—The imagery of keats and shelley. Chapter one, Page 3.

का चित्र उभर सकता है।[1] मूर्त तथा अमूर्त में अन्तर यही है कि एक में वस्तु के विभिन्न तत्त्वों को संश्लिष्ट रूप में देखने की प्रवृत्ति दिखाई देती है तो दूसरे में विश्लिष्ट रूप में देखने की विशेषता पाई जाती है। अमूर्तन (Abstraction) की विधि पर आधारित मानव-कल्पना व्यापक यथार्थ को कुछ सार्थक बिम्बों में देखने की शक्ति प्राप्त कर सकी है। अमूर्तन की क्रिया मन की वह शक्ति है जिसके द्वारा बाह्य वस्तु को अपने में विश्लिष्ट करके एक स्वतः पूर्ण इकाई के रूप में देखा जा सकता है। वस्तु को घटाकर बिम्ब और बिम्ब को भी परि-सीमित करके प्रतीक के रूप में परिवर्तित करना अमूर्तन (Abstraction) की विधि है। अतः कवि इस अमूर्तन-विधि से वस्तु के स्थान पर मन में एक ही रूप को रहने देता है जो उसके द्वारा सम्पूर्ण वस्तु को प्रतिभासित करता है। काव्य में प्रतीक-योजना इसी अमूर्तन-विधि का ही परिणाम है।

मूर्तरूप का सम्बन्ध प्रत्यक्षीकरण (Perception) की विधि से है। प्रत्यक्षीकरण के सम्बन्ध में सभी दार्शनिक एकमत नहीं हैं। शंकराचार्य ने प्रत्यक्ष और इन्द्रिय-ग्राह्य रूप को माया कहकर मिथ्या घोषित किया जबकि चार्वाक प्रत्यक्ष को ही सत्य मानते हैं। नैयायिकों के मतानुसार इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष का नाम ही प्रत्यक्ष है। इसी प्रत्यक्ष के आधार पर वे उपमान को भी एक प्रमाण मानते हैं जहाँ एक वस्तु को देखकर उसके सादृश्य से दूसरी वस्तु का ज्ञान होता है। इसी उपमान का काव्य संरचनात्मक कल्पना के आधार पर गहरा सम्बन्ध है। मनोविश्लेषणवाद ने प्रत्यक्षीकरण के सम्बन्ध में नवीन तथ्यों को खोज निकाला है। फ्रायड के मतानुसार बिम्बों की सृष्टि मन के उपचेतन स्तर पर होती है। यह उपचेतन स्तर ही मनुष्य की समस्त सृष्टि का रहस्य है। बिम्बों का सृजन इसी स्तर पर होने के कारण आधुनिक कविता में जो रूप सम्बन्धी धारणा है वह विशेष रूप से स्पष्ट हो जाती है। मनोविज्ञान और साहित्य का यही अटूट सम्बन्ध है क्योंकि प्रत्यक्षीकरण में ऐन्द्रिय-बोध का अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है अतः प्रत्यक्षीकरण की क्रिया का भाषा के विकास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। प्रसिद्ध दार्शनिक ह्वाइटहेड ने कलात्मक अथवा साहित्यिक प्रत्यक्षीकरण की क्रिया के तीन स्तर बताये हैं। प्रत्यक्षीकरण के प्रथम स्तर पर बाह्य परिवेश के प्रति व्यक्त होने वाली आदिम विशुद्ध नैसर्गिक क्रिया (प्योर इन्स्टिक्टिव एक्शन) प्रत्यक्षात्मक उत्सुकता में होती है। दूसरे स्तर पर मानसिक प्रतिफलन की क्रिया (रिफ्लैक्स ऐक्शन) होती है जो मूल में संवेदनात्मक होने से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वस्तु की सत्ता पर निर्भर करती है। यह अनायास होती है क्योंकि इसका सम्बन्ध एक प्रकार के अभ्यास या मानसिक आदत से है जिसे संस्कारों का प्रतिफलन भी कह सकते हैं। धीरे-धीरे हम प्रत्येक संवेदना के प्रति कुछ विशेष प्रकार की मानसिक प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। तीसरे स्तर पर प्रतीक निर्धारित क्रिया (सिम्बोलिकली कंडीशण्ड एक्शन) है जो प्रत्यक्षी-करण के प्रतीकात्मक अर्थों को जान लेने के बाद आरम्भ होती है। प्रत्येक कवि को बिम्ब-विधान के लिए इन तीनों स्तरों से होकर गुज़रना पड़ता है।

हीगेल ने बिम्ब को प्रत्यय (आइडिया) की ऐन्द्रिक मूर्तता (Sensuous configuration of Idea) माना है।[2] छायावादी कवियों ने बिम्ब को इसी आधार पर ग्रहण किया है उसे चित्र कहा है। 'निराला' जी उत्कृष्ट चित्र-विधान के लिए भाव, चित्र और शब्द-चयन

1. A poem is the very image of life expressed in its eternal truth, Shelley—Ouoted by C. Day Lewis—In his "Poetic Image on, Page 93.
2. Hegel—The Philosophy of Fine Art, Translated by Osmaston, London, 1920, Page 95.

की अनुकूल अन्विति मानते हैं। उनके मतानुसार जहाँ चित्र और भाव का समन्वय अनुकूल शब्दों के माध्यम से व्यक्त होता है, वहाँ उत्कृष्ट कविता बनती है।

निराला की प्रसिद्ध कविता राम की शक्तिपूजा में अनेक विराट एवं उदात्त बिम्बों की विशेषता परिलक्षित होती है। वे पर्वत के रूप में शक्ति अर्थात् पार्वती की कल्पना विराट बिम्ब के रूप में करते हैं। इसी प्रकार प्रसाद और महादेवी वर्मा की उदात्त बिम्ब-योजना में सर्वत्र विराटता के दर्शन होते हैं।

छायावादी कवियों ने गत्यात्मक बिम्बों का भी प्रयोग किया है। गत्यात्मक बिम्ब-विधान में कभी-कभी स्मृति के आधार पर अनुभूति का वेग प्रकट किया जाता है। वैसे वस्तुओं स्थितियों और दृश्यों का अंकन गतियुक्त बनाया जाता है। 'राम की शक्तिपूजा' में स्मरण के सहारे अतीत के गत्यात्मक दृश्यों, स्थितियों और वस्तुओं की मानसिक पुनरावृत्ति बहुत ही मधुर प्रतीत होती है। युद्ध के क्षेत्र में पराजय की आशंका से व्याकुल राम के मन में स्मृति-बिम्ब उभरता है जिसमें वेग का कैसा स्वाभाविक रूप है—

याद आया उपवन
विदेह का, —प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का—नयनों से गोपन-प्रिय सम्भाषण,
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान पतन—
काँपते हुए किसलय, —झरते पराग-समुदय—
गाते खग नवजीवन परिचय, —तरु मलय-वलय,
ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय, —ज्ञात छवि प्रथम स्वर्गीय,—
जानकी-नयन-कमनीय-प्रथम कम्पन तुरीय।[1]

पंतजी के गत्यात्मक बिम्ब भी क्रिया-सौष्ठव से सुन्दर और आकर्षक बने हैं। दार्शनिक तथ्य को 'प्रथमरश्मि' नामक कविता में इस गत्यात्मक बिम्ब के द्वारा सम्प्रेषित किया है—

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति-पुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत-जाल में
धर कर नाम रूप नाना।[2]

आधुनिक काव्य में और विशेषकर कलावादी तथा अतियथार्थवादी काव्य में सह संवेदनात्मक अथवा मिश्रित बिम्बों के पीछे ऐन्द्रिक बोध की जो पृष्ठभूमि रहती है उसमें प्रतीकवादी आन्दोलन की दार्शनिक चेतना रहती है। इस दार्शनिक चेतना के मूल में भारतीय प्रमाणवाद (Epistemology) माना जा सकता है। इसके अनुसार हमारे पूर्वानुभूत संस्कार मन में विद्यमान होते हैं जिनके कारण ऐन्द्रिक बोध का परस्पर विनिमय सा होता है। जब एक इन्द्रिय क्रियाशील होती है तो उस समय अन्य इन्द्रियाँ निष्क्रिय नहीं हुआ करतीं अपितु वे भी विषय के सम्बन्ध में अपनी धारणा बनाती रहती हैं। जैसे फूल को सूंघते समय आँखें और हाथ का स्पर्श-कार्य चलता रहता है। अनुमान प्रमाण में भी यही विनिमय अर्थात् सह संवेदन का सिद्धान्त कार्य करता है। पश्चिम के कवियों ने सह संवेदन को 'सिनेस्थीसिया'

१. निराला—अनामिका, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १५१।
२. पंत—वीणा, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९४२, पृ० ५४।

(Synaesthesia) को प्राय: Sense transfer अथवा Sense analogy के अर्थ में ग्रहण किया है। आई० ए० रिचर्ड्स ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—A sensation in one part of the body produced by a stimulus applied of another part.[1] शेली ने अपनी प्रसिद्ध कविता "द सेन्सीटिव प्लान्ट" में इस बोध-विनिमय (Sense Transfer) को प्रस्तुत किया है—

And the hyacinth purple, and white and blue,
Which flung from its bells a sweet peal a new.
Of music so delicate, soft and intense,
It was felt like an odor within the sense.[2]

यहाँ रंगीन कुसुमों से सुगन्ध का नहीं, सुमधुर संगीत का संचार हो रहा है। इसी प्रकार का सह संवेदन कीट्स की निम्नलिखित पंक्तियों में है—

Tasting of Flora and the Country green,
Dance and Provencal song and sunburnt mirth.[3]

इसी सिनेस्थेसिया के सिद्धान्त को चार्ल्स बोद्लेयर ने कला जगत् के लिए उपयोगी बनाया है। बोद्लेयर की प्रसिद्ध रचना 'करेस्पोण्डेंस' (Correspondence) में इस नये शिल्प का प्रयोग ऐतिहासिक महत्व प्राप्त कर चुका है। इन्द्रिय-बोध विनिमय की प्रविधि देखिये—

Like prolonged echoes mingling far away
In a unity tenebrous and profound,
Vast as the night and as the limpid day,
Perfumes, sounds and colours correspond.[4]

छायावादी काव्य में सह संवेदनात्मक विम्बों की विशेषता दिखाई देती है। प्रसाद की निम्नलिखित पंक्तियों में इस प्रकार के विम्ब को देखिये—

नूपुरों की झनकार घुलीमिली जाती थी
चरण अलक्तक की लाली से।
जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा
पी रही दिगन्त व्यापी संध्या संगीत को।[५]

यहाँ चाक्षुष बोध, श्रावण बोध और आस्वाद बोध का समीकरण उपस्थित है। निराला ने वर्ण बोध तथा आस्वाद बोध का मिश्रण इस प्रकार कर दिया है।

चाहता जी
नील-जल-सरोवर पर
प्रेम-सुधा-कौमुदी पी

1. I. A. Richards quoted by Jagdish Chandra Jain in Pashchatya, Sameeksha, Darshan, Page 48.
2. P. B. Shellay—The sensitiveplant.
3. John keats—Ode to Nightingale.
4. Baudelaire in 'Franch Symbolist Poetry'—Translated by C. F. MacIntyre—University of California Press, 1958.
५. प्रसाद—लहर, भारती भण्डार, प्रयाग, पंचम संस्करण, पृ० ६०।

खिलखिलकर हँसती हुई
भाग्यवती कुमुदिनी सी
सांवरे का अधर मधु पानकर
सुख से बिताऊँ दिन ।[1]

इसी प्रकार दार्शनिक अनुभूति की व्यंजना निम्नलिखित सह संवेदनात्मक बिम्ब के आधार पर निरालाजी इस प्रकार करते दिखाई देते हैं। यहाँ वे आस्वाद बोध और वर्ण बोध अर्थात् दृश्य बोध का मिश्रण करते हैं--

देखते निमेषहीन नयनों से तुम मुझे
रखने को चिरकाल बाँधकर दृष्टि से
अपना ही नारी रूप, अपनाने के लिए
मर्त्य में स्वर्ग-सुख पाने के अर्थ प्रिय
पीने को अमृत अंगों से झरता हुआ ।[2]

पंतजी ने 'एकतारा' शीर्षक कविता में सह संवेदनात्मक बिम्ब का प्रयोग दृश्य तथा श्रवण बोध के मिश्रित रूप में इस प्रकार किया है—

गुंजित अलिसा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन अन्धकार
हलका एकाकी व्यथा-भार ।[3]

स्वतः चालित स्वप्न-प्रक्रिया पर आधारित कुछ बिम्बों के प्रयोग अज्ञेय, शमशेर बहादुर, गिरिजा कुमार माथुर तथा मुक्तिबोध ने किये हैं। नये कवियों में फ्रायड तथा युंग के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित बिम्ब मिलते हैं। मुक्त अनुषंग-पद्धति (Free association) पर आधारित बिम्ब अज्ञेय की कविता में देखने को मिलते हैं। यहाँ पर ये खंडित बिम्ब प्रतीत होते हैं। एक उदाहरण देखिए—

झरोखे में से बहती हवा का एक झोंका
इतराता आता है,
और इतिहास के पन्नों को उड़ाता हुआ चला जाता है।
दिक्चक्रवाल से सिमट कर चाँदनी
झरोखे से झरती हुई
बिल्लौर-सी जम जाती है।
जमी हुई चाँदनी के झलमलाते ताजमहल के नीचे
बागड़ियों के झोंपड़ों के छप्पर उभर आते हैं।[4]

मुक्त अनुषंग-पद्धति का मुक्तिबोध खुलकर प्रयोग करते रहे हैं उसमें सार्थकता होती

१. निराला—परिमल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, पृ० २३७।
२. निराला—अनामिका, पृ० ५।
३. पंत—आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ५५।
४. अज्ञेय—इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ० ३१।

है ।[१] युंग के सामूहिक अवचेतन (कलेक्टिव अनकांशस) के आधार पर भावबिम्ब अथवा आदिमबिम्ब (Archetypal Image), पौराणिक बिम्ब तथा लीजेंडरी बिम्बों की सृष्टि होती है ।

व्यंग्य-बिम्बों की सृष्टि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी कविता की प्रमुख विशेषता रही है । गांधीवादी नेताओं पर व्यंग्य-बिम्ब मुकुट में सिर को बिठाने के लिए देखिए—

किन्तु हौदे की तरह वह ढकढकाता
शीश पर थिर हो न पाता ।
और खलदल कवच तन पर
इस तरह लगता कि जैसे
नाग त्यक्ता केंचुली में
केंचुआ बरसात का पैठा हुआ है ।[२]

धूमिल 'पट-कथा' शोर्षक कविता में 'कुर्सी-लिप्सा' की ओर संकेत करते हुए कहते हैं जहाँ व्यवस्था की मशीन का कोई पुर्जा गरम होकर छिटकता है लेकिन ठंडा होकर फिर कुर्सी से चिपक जाता है । देश का समाजवाद देखिये —

मेरे देश का समाजवाद
माल गोदाम में लटकी हुई
उन बाल्टियों की तरह है जिन पर आग लिखा है
और उनमें बालू पानी भरा है ।[३]

धूमिल की प्रसिद्ध कविता 'रोटी और संसद' में व्यंग्यात्मक बिम्ब देखिये—

एक आदमी
रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है
वह सिर्फ रोटी से खेलता है
मैं पूछता हूँ—
यह तीसरा आदमी कौन है ?
मेरे देश की संसद मौन है ![४]

१. मैंने आँखें खोलीं, देखा
मैं एक अश्व पर उड़ा जा रहा हूं अनन्त की ओर, ऊँची-नीची चढ़ाइयों पर
मैंने ढीली कर दी है उसकी डोर
जाने कैसे अनगिन पर्वत सूर्यास्त मेघ, नक्षत्र
पार कर पहुँचा हूं उस छोर

—हंस १९५७, पृ० ९९

२. बच्चन—चार खेमे चौंसठ खूंटे, पृ० १२४ ।
३. संवेदना के बिम्ब—डा० राजानन्द, पृ० ७८ पर उद्धृत ।
४. धूमिल—प्रगतिशील कविता के मील पत्थर—डा० रणजीत, पृ० १८६ ।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी की हिन्दी कविता में दार्शनिक चेतना की अभिव्यक्ति विविध प्रकार के बिम्बों के सफल माध्यम द्वारा हुई है। छायावादी कविता में मिश्रित बिम्बों का ही अधिक सौन्दर्य दिखाई देता है जहाँ विभिन्न ऐन्द्रिक बोधों का काल्पनिक रूप उभारा गया है। प्रयोगवादी कवियों ने फ्रायड के स्वप्न तथा उपचेतन सिद्धान्त पर आधारित बिम्बों की सृष्टि की है। प्रायः प्रयोगवादी बिम्ब-योजना जटिल एवं दुरूह प्रतीत होती है। युंग के आर्केटाइपल बिम्ब में सामूहिक अवचेतन की धारणा बहुत ही सुग्राह्य सिद्ध हुई है। मुक्तिबोध अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती जैसे नयी कविता के कवियों ने बिम्ब-योजना को बहुत व्यापक रूप प्रदान किया है। केदारनाथ सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, अशोक वाजपेयी, सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय इत्यादि ने प्रतीकवादी बिम्बों की सुन्दर रचनाएँ प्रस्तुत की हैं।

सच कहा जाय तो यह बिम्ब-योजना ही समस्त रचना-प्रक्रिया का उद्देश्य है क्योंकि प्रत्येक रचनाकार अमूर्त प्रत्ययों को बिम्बों में ही रूपायित करके रचना-धर्मिता को सार्थक सिद्ध करता है। निश्चय ही नयी कविता में बिम्बों के माध्यम से कवियों ने आन्तरिक अनुभूति को बाह्य यथार्थ से जोड़कर एक श्रेयस्कर कवि-कर्म का निर्वाह किया है। दार्शनिक चेतना वास्तव में बहुत अमूर्त प्रत्यय होती है लेकिन इन कवियों ने बौद्धिक विश्लेषण से अनुभव अथवा प्रामाणिक अनुभूति को बिम्बों के आधार पर संश्लिष्ट कर दिया है। साठोत्तरी कविता में जो बिम्ब-योजना मिलती है उसमें अति यथार्थवादी दर्शन की अभिव्यंजना हुई है।

• • •

पुष्टिमार्ग तथा सूरदास : आधुनिक संदर्भ में पुनर्मूल्यांकन

डा० रमेशकुमार शर्मा, एल-एल० बी०, एम० ए०, पीएच० डी०, डी० लिट्०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी तथा संस्कृत विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर (कश्मीर)

*

मैं ब्रजवासी हूँ । ब्रज के जीवन में कुछ अपनी विशेष मान्यताएँ हैं । कृष्ण तथा उनसे सम्बन्धित जो भी कुछ है, उससे अनुराग तथा अपनी भाषा से प्यार के विना ब्रजवासी रह नहीं सकता । एक और विशेषता है ब्रज की । लोक-संस्कृति की समृद्धता और उसका बहु-मूली विकास । ब्रज में नाटक खेले जाते हैं । सामान्य ब्रजवासियों के सहज-सरल नाटक । उनमें कृष्ण का एक सखा होता है, जिसका नाम है मनसुखा । कथोपकथन देखिए—

कृष्ण—ओ रे मनसुखा ।
मनसुखा—काये रे, कारे कन्हैया ।
कृष्ण—जां आउ ।
मनसुखा—हट् सारे, हूँ ना आवतु, वैसेई खूनु पियतुए ।

कृष्ण के प्रति यह सहज-समानता का दृष्टिकोण और साथ ही उनके ब्रह्मत्व को मान्यता देना, यह ब्रज की संस्कृति का मूल है । 'जै वंसीवारे की', 'जै जमना मैया की', 'राधे-राधे' आदि ने नमस्कार-प्रणाम का स्थान ले रखा है और साथ में 'राम राम साब' भी है । कृष्ण को जनमानस में ब्रह्म के रूप में स्थापित करना, परन्तु साथ ही उसे जनसाधारण की अपनी व्यक्तिगत 'वेवलैंग्थ' पर बनाये रखना, यह सब ब्रजभूमि को सूरदास ने तथा उनके साथ के कृष्णभक्त कवियों ने ही दिया है । अक्षर-ज्ञान से पूर्व मुझे माता-पिता ने सूर के पद कण्ठस्थ करा दिये थे । सूरदास के लिए मेरे मन में जितना आदर है उतना अन्य किसी कवि के लिए नहीं है फिर भी सूरादि कवियों के विषय में कुछ तथ्य ऐसे उभरते हैं जो कि उनके प्रति मेरे मन में आक्रोश उत्पन्न करते हैं । आज उनका ज़िक्र करना आवश्यक समझता हूँ ।

वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध, भारत में सर्वप्रथम विद्रोह क्षत्रिय कृष्ण ने किया, बहुत आगे चलकर क्षत्रियों ने जैन तथा बौद्ध धर्म चलाकर उसकी पूर्ण अस्वीकृति पर मुहर लगाई । धर्म को शिकंजे में जकड़ कर, जन्मानुसार-जाति के भ्रामक-सिद्धान्त का प्रतिपादन करके, धर्म के ठेकेदार बनने का प्रयत्न करने वाले ब्राह्मणों का विरोध यहाँ तक बढ़ा कि वैदिक धर्म को लोग 'ब्राह्मण-धर्म' कहने लगे और सारा झगड़ा 'जाति' या 'वर्ण' पर जाकर टिक गया, क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों का हो गया । भारतीय मनीषा का मूल-मंत्र वर्ण-सिद्धान्त नहीं

था, आश्रम-सिद्धान्त था। कठोपनिषद् में यमाचार्य नचिकेता को जिस 'त्रि-नाचिकेत अग्नि' का उपदेश देता है उसमें भी यही कहा गया है—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धि त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यु।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येनां शान्तिमत्यन्तमेति।।

—प्रथम वल्ली ।।१७।।

(इसका तात्पर्य है, चार आश्रमों की तीन सन्धियों में से गुज़र कर 'त्रि-नाचिकेत-अग्नि' की साधना होती है। इन तीनों अग्नियों में से गुज़र कर जो जीवन-क्रम बनता है वह ब्रह्म-यज्ञ कहलाता है। जो व्यक्ति, स्तुति के योग्य इस ब्रह्म-यज्ञ को जान जाता है अर्थात् उसके विषय में निश्चय कर लेता है, वह अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है।)

व्यक्ति तथा समाज के समन्वित हित का साधन जो कि भारतीय समाज का मूल मंत्र था, जिसमें 'संभूति' अर्थात् समष्टिवाद और 'असंभूति' अर्थात् व्यक्तिवाद दोनों का समन्वय था,[1] बाबाजियों, सिद्धों, पीरों-फकीरों तथा 'फुल टाइम' भक्तों के हाथों में पड़कर भ्रष्ट हो गया। शस्त्र तथा शास्त्र का सामाजिक-समन्वय जिसमें 'ज्ञान-मुद्राय कृष्णाय' की कल्पना में 'प्रपन्न पारिजाताय' के साथ-साथ 'तोत्रवेत्रेक पाणये' भी कहा गया था, जिसमें 'कुसुमादपि मृदु' के साथ 'वज्रादपि कठोर' की कल्पना थी, उसका रूप व्यक्ति-प्रधान, ऐकान्तिक, तथा कभी-कभी गुह्य होने के कारण अहंकार-प्रधान हो गया। अपना परलोक सुधार लो, लोक और समाज चाहे भाड़ में जाय। अपना-अपना ब्रह्म और उसको पाने के अपने-अपने रास्ते, जिनमें दखल देने का किसी को कोई अधिकार न रहा तभी तो दास कबीर कहते हैं, 'पड़ोसिनि मांगे पिऊ हमार, बावरी पिउ ना मिलहिं उधार।' ब्रह्म-रूपी-पिउ की पूँजी जब से अविभाज्य हो गई, राष्ट्र एवं व्यक्ति के पतन के दरवाज़े विलग-विलग सम्प्रदायों के मठाधीशों ने विलग-विलग अन्दाजों से खोलने आरम्भ कर दिए और पापियों तथा अनाचारियों ने रेशमी-भगवे धारण करके भोले भक्तों को ठगना आरम्भ कर दिया। यह प्रक्रिया तब से आरम्भ होती है जब से ब्रह्म का स्थान गुरु ने ले लिया। गुरु का महत्व ब्रह्म से भी अधिक बताया जाने लगा। निर्गुणिए, सूफी, कृष्णभक्त और अन्य अनेक छुटपुट सम्प्रदाय इससे अछूते न रहे। फलतः आज अनेक ऐसे सम्प्रदाय, (जैसे राधास्वामी सम्प्रदाय) पाये जाते हैं जिनमें हाड़-मांस के शरीर वाले बहुधा भोगी एवं दुराचारी गुरू को ही भगवान माना जाता है।

भारत के भक्तों में, जिन्होंने सर्वाधिक सामाजिक हानि की है, वे हैं पुष्टि-मार्गीय भक्त। शुद्धाद्वैतवाद तथा वल्लभ सम्प्रदाय ने ऐतिहासिक कृष्ण का सत्यानाश कर दिया। कल्पित राधा के साथ-साथ कृष्ण का एक ऐसा कल्पित रूप उपस्थित कर दिया कि जिसने १८वीं-१९वीं शती तक आते-आते धर्माचरण में मठाधीशों के सखी सम्प्रदाय-जन्य भ्रष्टाचारों का कोढ़ लगा दिया। तन-मन-धन सब गुसाइँ जी के अर्पण होने लगा, कृष्ण के नाम पर परन्तु गुरू को, कृष्ण को नहीं। बौद्धों के हीनयान-महायान के झगड़े ने, तांत्रिकों, सिद्धों-नाथों तथा 'पंचमकारियों' के 'गुह्य' आचरणों ने जो भोग तथा मैथुन की व्यक्तिवादी चाट साधकों को लगा दी वह कृष्ण-भक्तों में छद्म-अलौकिक रूप में फली-फूली परन्तु आगे चलकर उसकी

१. देखें— **अन्धं तमः प्रविशन्ति ये संभूतिमुपासते।**
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः।।

—ईशावास्योपनिषद् ।।१२।।

उत्पत्ति या आविष्कार का सारा दोष कृष्ण-भक्तों का अनुसरण करने वाले शृङ्गारकालीन कवियों के माथे मढ़ दिया गया।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि सूर बालक का हृदय लेकर पैदा हुए थे और अन्त तक बालक का हृदय लिए हुए ही संसार-यात्रा निवाह गये। सूरदास में बल्लभाचार्य के संसर्ग में आने से पूर्व विरक्ति की प्रधानता थी परन्तु श्रीबल्लभ के प्रभाव से, वे प्रेम तथा लीला का वर्णन करने लगे।[1] विनय तथा भक्ति के पद गाने वाले सूरदास से गुरु ने कहा था कि 'कहा रिरियात हो लीला के पद गाओ' बेचारे सूर ने कृष्ण की लीला के पद रचे और गाये परन्तु उसने 'गुरुडम' को उस रूप में नहीं स्वीकारा जिस रूप में अन्य आगे आने वाले कृष्ण-भक्त कवियों ने स्वीकार किया था। यही कारण है कि मृत्यु-शय्या पर पड़े, अन्तिम सांसें गिनने वाले सूर से कहा गया था कि वे गुरू की प्रशंसा का गीत गायें। सूर ने जो पद गाया उसे गुरू की प्रशंसा का पद मान लिया गया—यद्यपि यह आज भी संदिग्ध है कि वह भगवान कृष्ण की ही प्रशस्ति है या साम्प्रदायिक-आचार्य की।

मेरा मत है कि बल्लभाचार्य का संसर्ग न भी मिलता तो भी सूर का महाकवित्व निखरे बिना न रहता। बल्लभ-सम्प्रदाय में भक्त के 'समर्पण' की पुष्टि के लिए अन्त में गुरु की 'छाप' की आवश्यकता पड़ती है। भक्त तथा भगवान के बीच अन्तिम मंजिल पर, या मंजिल के अन्त में भी, गुरु, भक्त और भगवान के बीच में रहता है, क्योंकि लोक-वेदादि की मर्यादा तोड़कर, 'चवाई' आदि की कसौटी पर कसे जाने के बाद भी, गुरु, महन्त या मठाधीश का 'सर्टीफिकेट' आवश्यक रह जाता है। 'आचार्य' का अर्थ है अपने आचरण से शिक्षा देने वाला परन्तु सभी गुरु सर्वदा एवं सर्वथा, श्री बल्लभाचार्य के समान सदाचारी नहीं होते, कभी-कभी गुरु, गुरु-घण्टाल निकलते हैं, और चेले-चेलिनों का तन-मन-धन सब हर लेते हैं। इसीलिए एक शृङ्गारकालीन कवि ने तत्कालीन (आजकल के भी) बाबाजी के विषय में कहा था कि वे भोली-भाली महिलाओं को 'माई-माई करिकें लुगाई करि लेत हैं।' घाघ ने कहा था—गया पेड़ जब बगुला बैठा, गया गेह जब मुड़िया पैठा। मुड़ियों से बचना चाहिए। वास्तव में देखा जाय तो सूरादि कृष्ण-भक्त कवियों में गुरु का प्रायोगिक महत्व तथा अधिकार अन्य सब सम्प्रदायों से अधिक है।

संभवतः इसी मान्यता के दुष्परिणामों को सूँघकर ही तुलसी ने भक्त तथा भगवान के बीच से, आराधना-यात्रा में, गुरु को हटा दिया था और कहा था—'तुम अपनायो जानिहों जब मन फिरि परि है' और मन फिर गया है इसका प्रमाण है कि जब मैं 'सन्त सुभाव गहोंगो।' तुलसी यही नहीं कहते अपितु वे यह भी कहते हैं कि 'राम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित-कंचनहि कसैहों।' अर्थात् अपने को मर्यादा पुरुषोत्तम राम के आचरण और रूप की कसौटी पर कस कर देखो, इस कार्य के लिए किसी अन्य की, गुरु की भी, आवश्यकता नहीं है। मुझे लगता है कि यदि बल्लभ-सम्प्रदायी न हुए होते, और उनके द्वारा ऐतिहासिक कृष्ण 'नचकैय्या' कृष्ण में न बदल दिया गया होता तो संभवतः तुलसी को मर्यादा पुरुषोत्तम राम की कल्पना करने की आवश्यकता ही न पड़ती। आश्चर्य की बात है कि ऐतिहासिक हीन-पौरुष राम को तुलसी ने मर्यादा पुरुषोत्तम 'कोदण्ड राम' बना दिया और पुष्टि-मार्गीय भक्तों ने कृष्ण के क्रान्तिदर्शी, योगी, राजनीतिज्ञ, योद्धा तथा महाप्राण स्वरूप को वाजिदअली शाह का पौराणिक संस्करण बना दिया। यह वर्णन देखिए—

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ९९।

नीबी ललित गही जदुराइ ।
जबहिं सरोज धर्यो श्रीफल पर, तब जसुमति गई आइ ।।
ततछन रुदन करत मनमोहन, मन में बुधि उपजाइ ।
देखौ ढीठि देति नहीं माता, राख्यो गेंद चुराइ ।। आदि[1]

संभोग-शृङ्गार के अन्य वर्णनों[2] में जिस रस की निष्पत्ति होती है उसे 'उज्ज्वल-रस' कहकर कृष्ण-भक्त कवि उसकी सामाजिकता को सुधार नहीं सके और शृङ्गारकालीन कवियों को दी गई इस विरासत के उत्तरदायित्व से मुख नहीं मोड़ सकते । मैं यह मानने को तैयार हूँ कि पूज्य वल्लभाचार्य जी तथा सूर के मन में लौकिक वासना की उत्पत्ति इन वर्णनों से नहीं होती थी, परन्तु ऐसे पहुँचे हुए तथा अलौकिक मनोभूमि वाले सब तो नहीं होते । आज पुष्टि-मार्गीय कविता पढ़ने वाले सब पाठक तो ऐसे नहीं हैं। इन वर्णनों से आज अहिन्दू पाठक पर दूसरा ही प्रभाव पड़ता है । कृष्ण की इस लीला का क्या प्रयोजन है, इसे सामान्य पाठक नहीं समझता। सूर की बात और है, वे तो सहज-भाव से, गुरु आदेशानुसार मानते थे कि 'नहि लीलाएव किंचित् प्रयोजनमस्ति, लीलाएवप्रयोजनत्वात् ।'

मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि महाकवि सूरदास जन्माध थे । श्रीनगर में कुछ वर्ष पूर्व हुए एक भाषण में एक विद्वान् ने कहा था कि सूर संभवतः काने थे । मेरे यह पूछने पर कि उनकी कौन-सी आँख नहीं थी, या फूटी थी, उन्होंने कहा था, यह और आगे शोध का विषय है । आशा है इस विषय पर किसी-न-किसी विश्वविद्यालय से कोई मेधावी अनुसंधित्सु पीएच० डी० प्राप्त कर सकेगा; यदि उसे कोई सामर्थ्यवान निर्देशक मिल गया तो।

नील, सेत अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल रुलाई ।
सनि गुरु-असुर, देवगुरु मिलि मन भौम सहित समुदाई ।।[3]

इस प्रकार, विभिन्न रंगों से युक्त उपमेय-उपमानों के वर्णन करने में सूर समर्थ थे, केवल इसीलिए मैं यह नहीं कहता कि सूर जन्मान्ध नहीं थे। यह वर्णन तो सुनकर भी किया जा सकता है । मैं निम्नलिखित उदाहरण देता हूँ, जिनमें सूक्ष्म-निरीक्षण-जन्य जो वर्णन है, वह कोई जन्मान्ध व्यक्ति नहीं कर सकता—

हरिजू की बाल-छबि कहौं बरनि ।
....

चलत पद-प्रतिबिम्ब मनि-आँगन घुटुरुवनि करनि ।
जलज-सम्पुट-सुभग-छबि भरि लेति उर जनु धरनि ।।[4]

उपर्युक्त वर्णन से भी अधिक सूक्ष्म-निरीक्षण का प्रमाण निम्नलिखित पंक्तियों में है—

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत ।
....

१. सूरसागर, सम्पादक—नन्ददुलारे वाजपेयी, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध १३०० ।
२. वही, १३०४, १३०६ इत्यादि ।
३. वही, ७२६ ।
४. वही, ७२७, ७२८ ।

कनक-भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति ।
कर-कर प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजति ।।[१]

कहा जाता है कि सूर की भक्ति सखा-भाव की है । यही नहीं इसके समर्थन में इस विश्वास का हवाला दिया जाता है कि सूर उद्धव के अवतार थे । मैं यह मानने में हिचकता हूँ। सूर दास्य-भाव की भक्ति ही करते थे। कम-से-कम उनके काव्य से तो यही संकेत निकलता है । 'पतितन के नायक' के रूप में अपना वर्णन करने वाले सूरदास ने सख्य-भाव का कोई पद नहीं लिखा है । 'दास' रूप में ही अपने पदों का अन्त वे करते हैं । चतुर्थ कक्षा से एम० ए० तक के पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों में सूर को सखा-भाव की भक्ति करने वाला भक्त कहा जाता है, जो कि एकदम भ्रामक कथन है। कृष्ण के बालरूप का सहज-स्वाभाविक वर्णन करने से ही हम यह कैसे मान लें कि सूर अपने को कृष्ण का सखा मानते थे । जहाँ उन्होंने अपने को कृष्ण के समय में रखकर देखा है वहाँ भी अपने को भिक्षुक रूप ही में चित्रित किया है ।

बहुधा लोग समझते हैं कि सूर ने केवल भक्ति और कृष्ण-भक्ति के ही पद गाये लिखे हैं । यह धारणा उन लोगों की होती है, जो सम्पूर्ण सूर-सागर का अवगाहन करने से कतराते हैं। महाभारत-रामायण के अनेक प्रसंगों के साथ अन्य पुरातन ग्रन्थों के अनेक प्रसंगों पर सूर ने कविता की है तथा अपने समय के जीवन के विविध रंगों को भी उभारा है। इस सन्दर्भ में सूर की कविता का समाजशास्त्रीय अध्ययन श्रेयस्कर होगा ।

महाकवि सूरदास पर अनेक विद्वानों ने लिखा है। शुक्लजी ने सूर को पूर्ण कवि नहीं माना है ।[२] बात यह थी कि रत्नावली के वंशज शुक्लजी, प्रथम स्थान तुलसी को देने के बाद, 'सिलवर मैडिल' जायसी को देना चाहते थे। उन्होंने इस सिद्धान्त का आविष्कार किया था कि वही कवि 'पूर्ण कवि' कहलाये जाने का अधिकारी है जिसने नवों रसों की कविता की हो । उनके अनुसार इस 'टैस्ट' में सूर फेल हो जाते हैं और तीसरे स्थान पर रख दिये जाते हैं, केवल 'ब्रौंज मेडिल' मिलता है उनको । मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि स्थान-निर्धारण असाहित्यिक है, 'सूर सूर तुलसी ससी' वाले ज़माने का है । वास्तव में प्रेम-वर्णन में सूर का सानी कोई नहीं है । तुलसी भी नहीं । अपने-अपने क्षेत्र में, प्रत्येक कवि अपना स्थान रखता है । कहीं तुलसी आगे हैं, कहीं वे सूर से बहुत पीछे रह जाते हैं । सूरदास के मूल्यांकन तथा सूर के व्यक्तित्व के प्रकाशन में, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को मैं सर्वाधिक मान्यता देता हूँ । अपने परमप्रिय कवि, महाकवि सूरदास के विषय में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निम्नलिखित मत को उद्धृत करके अपनी बात समाप्त करता हूँ ।

'सूरदास का प्रेम संयोग के समय सोलह आना संयोग-मय है और वियोग के समय सोलह आना वियोग-मय है क्योंकि उनका हृदय बालक का था जो अपने प्रिय के क्षणिक वियोग में भी अधीर हो जाता है और क्षणिक सम्मिलन में भी सब कुछ भूल कर किलकारियाँ मारने लगता है। ....सच पूछा जाय तो राधिका और कृष्ण का सारा प्रेम-व्यापार, जो सूर-सागर में वर्णित है, बालकों का प्रेम-व्यापार है। ....असल में सूरदास की राधिका शुरू से आख़िर तक सरल बालिका है । उनके प्रेम में चण्डीदास की राधा के समान पद-पद पर सास-ननद का डर भी नहीं है और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रुदन में

१. सूरसागर, सं० नन्ददुलारे बाजपेयी, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध, ७२८ ।
२. चिन्तामणि, प्रथम भाग, १९४५, काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था, पृ० २९२ ।

हास और हास में रुदन की चातुरी भी नहीं है। ……(सूर) कहीं भी किसी भी सम्प्रदाय, मतवाद या व्यक्ति-विशेष के प्रति कटु नहीं हुए।………वे तुलसीदास के समान दृढ़चेता सेनानायक नहीं थे जो समाज की कुरीतियों से कुशलतापूर्वक बाहर निकलकर उस पर गोला-बारी आरम्भ कर दें।[1]

अन्त में यह निवेदन करना चाहता हूँ कि मेरी बातों को विद्वान लोग अन्यथा न समझें क्योंकि सच्ची और साथ-ही-साथ अच्छी लगने वाली बात कहना बड़ा कठिन है और मेरी सामर्थ्य के बाहर है। कहा है—

अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा।
हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः॥

—किरातार्जुनीयम्, प्रथम सर्ग

• • •

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १००, १०१, १०२।

द्विवेदी-युग में खड़ी बोली—आन्दोलन

डा० रोशनलाल ऐमा

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

*

सन् १६०० तक आते-आते खड़ी बोली के साहित्यिक व्यवहार की एक सुनिश्चित एवं स्पष्ट भूमिका प्रस्तुत हो चुकी थी। खड़ी बोली-आन्दोलन के फलस्वरूप, किंचित् मात्रा में पद्य-भाषा के रूप में भी खड़ी बोली को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। खड़ी बोली पद्य की विभिन्न शैलियों के जो उद्धरण अयोध्या प्रसाद खत्री ने 'खड़ी बोली का पद्य' में प्रस्तुत किए थे, उनसे यह स्पष्ट है कि पद्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली की किसी एक सुदृढ़ एवं प्रशस्त परम्परा की स्थापना इस युग में नहीं हो पायी थी। यह आन्दोलन सबलता से चला और इसको सफलता भी प्राप्त हुई। परन्तु नियम बद्धता और स्थिरता का उसमें अभाव था। कोई ऐसा संचालक उस समय तक उसको प्राप्त नहीं हुआ था, जो उसका मार्ग प्रशस्त करे और तन-मन से इस कार्य में लगकर वह आदर्श उपस्थित करे, जिस पर अन्य लोग चलकर उसको उन गुणों से अलंकृत कर सकें जो सत्कविता के लिए वांछनीय होते हैं।[1] अब यह समस्या खड़ी बोली की व्यापकता एवं आवश्यकता प्रदर्शन की उतनी नहीं थी जितनी खड़ी बोली की क्षमता प्रदर्शन की थी। इस आन्दोलन को अब ऊपरी या सतही आन्दोलन से आन्तरिक क्रान्ति में परिवर्तित करने की आवश्यकता थी। 'मूर्खा हिन्दी' को 'पंडिता हिन्दी' बनाने के प्रयत्न एवं प्रयास ही हिन्दी की सबसे बड़ी सेवा थी। ऐसे भाषा-संकट के समय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'सरस्वती' सम्पादक का पद ग्रहण करना मानो हिन्दी के उद्धारक का पद ग्रहण करना था। उन्होंने जिस सेवा-भाव, आतमसमर्पण, आचार्यत्व एवं दृढ़ता के साथ हिन्दी भाषा और साहित्य का पथ प्रशस्त किया, उसके महत्त्व का प्रमाण १६०३ से आगे का समस्त हिन्दी साहित्य है। द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का भार संभालते ही हिन्दी भाषा को सुव्यवस्थित, सुनिश्चित, सरल एवं प्रांजल रूप प्रदान करने का सम्पूर्ण भार अपने ऊपर ले लिया। उन्होंने न केवल तत्कालीन समस्त साहित्यकारों की भाषा का परिमार्जन एवं संशोधन किया, अपितु अपनी भाषा-त्रुटियों को भी सजग आचार्य की भांति परिशोधित किया। द्विवेदीजी पुराने खेवे के साहित्यकार थे। अतः उनकी भाषा में भी वे सभी त्रुटियाँ अनायास ही आ गई थीं, जिनका प्रचलन तत्कालीन खड़ी बोली में था। परन्तु

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध' : हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास १९९७ वि०, पृ० ५५३।

अन्य साहित्यकारों की भाँति इन त्रुटियों को खड़ी बोली का शुद्ध रूप न समझकर कालान्तर में स्वयं उन्होंने भाषागत् अव्यवस्था जानकर त्याज्य समझा। आधुनिक हिन्दी साहित्य की भाषा खड़ी बोली को दूषित एवं जटिलतम वातावरण से मुक्त कर उन्होंने उसे राष्ट्रीय सम्मान के उपयुक्त बनाया। कालान्तर में खड़ी बोली प्रारम्भिक नीरसता और इतिवृत्तात्मकता से माधुर्य, लाक्षणिकता और व्यंजनात्मकता तक विकसित हो गई।

नवीन रचनात्मक आन्दोलन :

सन् १६०० से पूर्व बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री द्वारा प्रवर्तित खड़ी बोली आन्दोलन तथा आलोच्य युग के खड़ी बोली आन्दोलन में मौलिक अन्तर है। खत्रीजी का आन्दोलन भाषा का मात्र बहिर्गत आन्दोलन था। द्विवेदी-युग का आन्दोलन भाषा का आन्तरिक आन्दोलन था। वह एक रचनात्मक आन्दोलन था। खत्रीजी ने जिस 'नारेबाज़ी और शोर-शराबा' से काम लिया था, उसका इस युग में अवसान हो चुका था।[1] खड़ी बोली का प्रस्तुत आन्दोलन भावावेशपरक न होकर ठोस मनन, चिन्तन और आत्म विश्लेषण से परिपूर्ण था। खड़ी बोली का वह प्रथम आन्दोलन शुद्ध हिन्दी क्षेत्र से दूर बिहार में प्रारम्भ हुआ था। अतः स्वाभाविक है कि उस पर अपने प्रदेश की तत्कालीन भाषा-स्थिति का प्रभाव रहे। उस समय बिहार में उर्दू-फारसी का प्रबल प्रचार था। अतः खड़ी बोली हिन्दी के 'मुंशी स्टाइल' के प्रति खत्री जी की अत्याधिक आस्था निर्मूल नहीं थी। खड़ी बोली के द्वितीय उत्थान काल में खड़ी बोली के समर्थक शुद्ध ब्रजभाषा एवं ब्रजप्रदेश के कवि नाथूराम शंकर शर्मा (अलीगढ़) बदरीनाथ भट्ट (आगरा) आदि भी थे। यद्यपि श्रीधर पाठक ने इनसे पूर्व खड़ी बोली का समर्थन किया था, तथापि अब नये युग में आकर महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रभाव से भाषा विषयक दृष्टि-कोण परिवर्तित हुआ था। द्विवेदीजी का विरोध तत्कालीन खड़ी बोली की पंचमुखी शैलियों से भी था। सितम्बर १६०२ ई० के 'सरस्वती' में एक व्यंग्य चित्र छपा था। उस चित्र में एक पंचमुखी व्यक्ति का विचित्र-सा चित्र था। जिसके साथ द्विवेदीजी द्वारा लिखित पद्य टिप्पणी भी संलग्न थी।

दो पैरों पर एक धड़, फिर सिर पांच अनूप।
मुझ पचरंगे पद्य का, देखो सुघर स्वरूप॥

इस व्यंग्य चित्र और टिप्पणी पर खत्रीजी द्विवेदीजी से नाराज़ भी हो गए थे। इन पाँच शैलियों की निरर्थकता को द्विवेदीजी भलीभाँति जानते थे। हिन्दी का स्वरूप एक ही हो सकता है, उसका राष्ट्रीय रूप पाँच भिन्न-भिन्न शैलियों में स्थापित नहीं हो सकता है। आचार्य द्विवेदी इन सूक्ष्म बातों से पूर्णतः परिचित थे। अतः उन्होंने इनका विरोध किया था।

द्विवेदीजी का मतवैभिन्य खत्रीजी से ब्रजभाषा पर भी था। खत्रीजी ब्रजभाषा को हिन्दी मानने के लिए तैयार ही न थे।[2] वे केवल खड़ी बोली और वह भी मुंशी स्टाइल वाली हिन्दुस्तानी को हिन्दी स्वीकारते थे। इसके विपरीत द्विवेदीजी ने ब्रजभाषा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए, उसको हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान भी प्रदान किया। उनका विरोध ब्रजभाषा से भावगत सीमाओं और काव्य के रूढ़ वर्ण्य विषयों के कारण ही था। यही कारण है कि द्विवेदी-युग में ब्रजभाषा में पद्य रचना बराबर होती रही। आधुनिकता की

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : ११वां संस्करण, संवत् २०१४, लेखक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५५१।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५५१।

क्रान्तिकारी विचारधारा को अभिव्यक्त करने वाली ब्रजभाषा की कविताएँ 'सरस्वती' में निरन्तर प्रकाशित होती रहीं ।

(क) आन्दोलन की प्रक्रिया :

इस आन्दोलन का प्रथम सोपान पद्य और गद्य की भाषा को एक करना था। आलोच्य युग से पूर्व यद्यपि इस दिशा में कार्य हो चुका था, तथापि ब्रजभाषा के समर्थक अब भी खड़ी बोली की काव्योचित क्षमता पर संदेह करते हुए, ब्रजभाषा को ही काव्य का उपयुक्त माध्यम सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे थे। किन्तु यह विरोध अब अवसान पर था। खड़ी बोली गद्य की व्यापकता ब्रजभाषा को काव्य-भाषा रहने देने में एक बहुत बड़ी बाधा थी। ब्रजभाषा काव्य के वर्ण्य विषयों का अब तीव्र विरोध हो रहा था। 'सरस्वती' के प्रथम अंक की आलोचना करते हुए पं० बदरीनाथ भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' में लिखा था कि यह अस्त नष्ट नायक-नायिका भेदवाला ब्रजभाषा काव्य छोड़ देना चाहिए।[१] गद्य की शक्तिमता को देखते हुए 'सरस्वती' के बाबू श्यामसुन्दरदास ने, ये दो भाषा-प्रयोग निन्दनीय बताये थे। अभी तक हिन्दी पद्य की ओर लोगों का ध्यान बहुत कम हुआ है। हिन्दी पद्य से हमारा आशय उस पद्य से है जो आजकल की हिन्दी में लिखा हो और न कि प्राचीन ब्रजभाषा में। ब्रजभाषा की कविता चाहे मधुर हो पर यह बात हिन्दी भाषा के लिए बड़ी निन्दा की है और उसके एक बड़े भारी अभाव को दिखाती है कि गद्य तो एक प्रकार की भाषा में जो उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न हो सम्पन्न हुई, लिखा जाय और पद्य पुरानी भाषा में।[२] श्यामसुन्दरदास जी के इस कथन को सिद्धान्त रूप में ग्रहण करके महावीरप्रसाद द्विवेदी १९०३ ई० में अपनी समस्त शक्ति और प्रतिभा के साथ इस दिशा में प्रवृत हुए। उन्होंने भी इस कथन की पुष्टि करते हुए लिखा—'गद्य और पद्य की भाषा पृथक-पृथक न होनी चाहिए। ....सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य-पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए........।'[३] इससे आगे बढ़कर उन्होंने इस सिद्धान्त की व्यापक सफलता की भविष्यवाणी भी की। खड़ी बोली के काव्य भाषा के रूप में स्थापित होने में कोई सन्देह नहीं था। अतः तत्कालीन साहित्यकारों से उन्होंने कहा कि वे जिस भाषा में बोलते हैं तथा गद्य रचना करते हैं, उसी भाषा में वे पद्य रचना भी करें क्योंकि ब्रजभाषा के कवि होते हुए भी खड़ी बोली की अनिवार्यता और आवश्यकता से भलीभाँति परिचित होने पर, वे ब्रजभाषा त्याग कर खड़ी बोली पद्य को व्यवस्थित रूप देने में जुट गए।[४]

तत्कालीन खड़ी बोली में अनेकानेक त्रुटियों का समावेश प्रसिद्ध साहित्यकारों की भाषा में भी हुआ था। स्वयं द्विवेदीजी की आरम्भिक भाषा के विषय में डा० उदयभानु सिंह लिखते हैं—"उनकी आरम्भिक रचनाओं में कटुता, अर्थहीनता, जटिलता और शिथिलता की मात्रा भी कम नहीं है।"[५] वास्तव में द्विवेदीजी की प्रारम्भिक रचनाओं में भाषा की इतनी सारी त्रुटियाँ हैं कि उनको देखकर यह विश्वास नहीं होता कि ये रचनाएँ प्रसिद्ध भाषा-सुधारक

१. हिन्दी प्रदीप १९०० ई०।
२. 'सरस्वती' : जून १९०१ ई०, पृ० १८७।
३. 'रसज्ञ रंजन' : महावीर प्रसाद द्विवेदी, साहित्य रतन भंडार आगरा, १९३९ ई०, पृ० १९,
४. वही, पृ० २०।
५. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग : डा० उदयभानु सिंह, पृ० २००।

महावीर प्रसाद द्विवेदी की है। उनकी भाषा में उन सभी दोषों के दर्शन होते हैं जिनका समावेश उनसे पूर्व तथा उनके समकालीन लेखकों में हो चुका था। लेखन की त्रुटियाँ, व्याकरण की अशुद्धियाँ, रचना विषयक दोष, शिथिलता, हास्यास्पद प्रयोग, अँग्रेज़ी और उर्दू-फारसी शब्दों का निरंकुशता से प्रयोग इत्यादि अनेक दोष उनकी प्रारम्भिक रचनाओं 'भामिनी विलास', 'बैंकन विचार रत्नावली'[1] इत्यादि में देखा जा सकता है। 'कुमार संभवसार' में उर्दू-फारसी के निरंकुश प्रयोगों से हुए कुछ हास्यास्पद प्रयोग भी उल्लेखनीय हैं।[2] इसके अतिरिक्त 'वेणी सम्हार' 'किरातार्जुनीय', 'अमृत लहरी' इत्यादि रचनाओं में भी भाषागत त्रुटियों के दर्शन होते हैं। परन्तु द्विवेदीजी एक कर्मठ एवं कृत संकल्प साधक थे। उन्होंने न केवल इन त्रुटियों को परिमार्जित किया अपितु भाषा की सरलता और शुद्धता की एक ऐसी प्रशस्त परम्परा का प्रवर्तन किया कि तत्कालीन समस्त हिन्दी जगत् को उनके आदेशों को शिरोधार्य करना पड़ा। नागरी प्रचारिणी सभा के कला-भवन में सुरक्षित 'सरस्वती' की हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के पर्यवेक्षण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध साहित्यकारों की भाषा का जो परिमार्जन आचार्य द्विवेदी ने किया, वह वास्तव में आश्चर्यजनक है। हिन्दी साहित्य उनकी इन सेवाओं से उऋण नहीं हो सकता। इन हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में खड़ी बोली गद्य एवं पद्यकार समान रूप से द्विवेदीजी की कर्मठता के पात्र बने हैं। रामचन्द्र शुक्ल, वृन्दावनलाल वर्मा, बदरीनाथ भट्ट, गिरधर शर्मा, गोविन्द-वल्लभ पंत, गणेश शंकर विद्यार्थी, कामता प्रसाद गुरू, काशीप्रसाद जायसवाल, लक्ष्मीधर वाजपेयी, सत्यदेव, पूर्ण सिंह इत्यादि। इन साहित्यकारों की व्याकरण, लेखन, वाक्य-रचना तथा शब्द-प्रयोग इत्यादि विषयक त्रुटियों की समाहारणा महावीर प्रसाद द्विवेदी की युग प्रवर्तक लेखनी से हुई।

द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' को अपनी भाषा विषयक नीति का आदर्श बनाया था, जिसमें वे प्रत्येक रचना को गहराई से परख कर ही प्रकाशित करते थे। इस प्रकार के निर्मम व्यवहार पर यदि उनकी आलोचना भी होती थी तथापि वे निष्काम कर्मयोगी की भाँति अपनी मान्यताओं पर अडिग विश्वास लिए हुए सम्पादन करते रहे। हिन्दी के भविष्य के प्रति जिस रचनात्मक ढंग से वे जागरूक थे, उसका कदाचित दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है। गुप्त जी की कविता 'क्रोधाष्टक' पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने गुप्तजी को जो पत्र लिखा था, उस से यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'हम लोग सिद्ध कवि नहीं। बहुत परिश्रम और विचारपूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढ़नें योग्य बन पाते हैं। आप दो बातों में से एक भी नहीं करना चाहते हैं। कुछ भी लिखकर उसे छपवा देना आपका उद्देश्य जान पड़ता है। आपने 'क्रोधाष्टक' थोड़े ही समय में लिखा होगा, परन्तु उसे ठीक करने में हमारे चार घंटे लग गए। पहला ही पद्य लीजिए—

१. (क) 'भामिनी विलास', महावीर प्रसाद द्विवेदी।
   १. लेखन विषयक त्रुटियाँ, पृ० २८, २६, १२३, २, १४०, १५० इत्यादि।
   २. व्याकरण की त्रुटियाँ, पृ० ४, १६, २४, १६६, १६८ इत्यादि।
   (ख) 'बैंकन विचार रत्नावली', महावीर प्रसाद द्विवेदी।
   १. लेखन विषयक त्रुटियाँ, पृ० १, २१, २५, २६, २९, ३६ इत्यादि।
   २. व्याकरण की त्रुटियाँ, पृ० १३, ४१, ३७, १२६ इत्यादि।

२. दे० पृ० १२२ पर उमा (पार्वती) को 'उस्ताद' कहा गया है।

होवे तुरन्त उनकी बलहीन काया
जानें न वे तनिक भी अपना-पराया
होवें विवेक वर बुद्धि विहीन पापी
रे क्रोध, जो जन करें तुझको कदापि

क्या आप क्रोध को आशीर्वाद दे रहे हैं जो आपने ऐसी क्रियाओं का प्रयोग किया ? इसे हम अवश्य 'सरस्वती' में छापेंगे, परन्तु आगे से आप 'सरस्वती' के लिए लिखना चाहें तो इधर-उधर अपनी कविताएँ छापने का विचार छोड़ दीजिए। जिस कविता को हम चाहें उसे छापेंगे। जिसे न चाहें उसे न कहीं दूसरी जगह छपाइए न किसी को दिखाइए। ताले में बन्द करके रखिए।[१] इस पत्र से न केवल द्विवेदीजी की गुण ग्राहकता, मर्म ग्राहकता एवं कर्मठता का पता लगता है, अपितु तत्कालीन हिन्दी पद्य की करुणाजनक स्थिति का भी परिचय प्राप्त होता है। 'कुछ लिखकर' छपवाने की उतावली से काव्य का स्तर किस प्रकार गिर गया था, यह भी स्पष्ट है। भावी राष्ट्रकवि के नाम यह पत्र, वास्तव में अपने आप में एक ऐतिहासिक एवं सटीक पत्र है।

'सरस्वती' की इस भाषा-नीति को द्विवेदीजी हर व्यक्ति के साथ समानरूप से प्रयुक्त करते थे। प्रसिद्ध कहानीकार एवं उपन्यासकार विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' को सरस्वती की भाषा-नीति को समझाते हुए द्विवेदीजी ने उनसे कहा था………'सरस्वती' की अपनी निजी लेखन शैली है। वह मैं आपको बताता हूँ। देखिए—लेने के अर्थ में जब लिये शब्द लिखा जाता है तब 'यकार' से लिखा जाता है और जब विभक्ति के रूप में आता है तब 'एकार' से लिखा जाता है। जो शब्द एकवचन में यकारान्त है वे बहुवचन में भी यकारान्त ही रहेंगें। जैसे—'किया', 'किये', 'गया', 'गये' परन्तु स्त्रीलिंग में 'गयी' न लिखकर ईकार से 'गई' लिखा जाता है। 'कहिए', 'चाहिए', 'दीजिए' इत्यादि में 'एकार' लिखा जाता है। अकारान्त शब्दों का बहुवचन एकारान्त होता है। जैसे—'हुआ' का बहुवचन 'हुए'। जहाँ पूरा अनुस्वार जिसे उर्दू में 'नून गुन्नः' कहते हैं, बोलें वहाँ चन्द्रबिन्दु लगाया जाता है, जैसे—'कांपना'। सम्भव है, मेरी इस शैली से आपका मतभेद हो, परन्तु प्रार्थना यह है कि 'सरस्वती' के लिए जब लिखिए तब इन बातों का ध्यान रखिए।[२]

एक व्यक्ति सामान्यतः एक समय में एक ही प्रकार की शैली का व्यवहार करता है। यह सर्वथा व्यावहारिक एवं मनोवैज्ञानिक भी है। अतः 'सरस्वती' में लिखना उस शैली को ग्रहण करना था। 'सरस्वती' की तत्कालीन साहित्यिक जगत् में अत्यधिक प्रतिष्ठा थी। 'सरस्वती' में लिखना गौरव और प्रतिष्ठा का विषय होता था। इसीलिए आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रत्येक प्रतिष्ठित साहित्यकार की रचना 'सरस्वती' में कहीं-न-कहीं प्रकाशित हुई है। अतः आचार्य द्विवेदीजी के भाषादर्श का प्रभाव साहित्य की प्रत्येक विधा और उसकी शैलियों में समाविष्ट हुआ।

(ख) द्विवेदीजी की भाषा नीति :

अपने लेखों, भाषणों, सम्भाषणों, भूमिकाओं और सम्पादकीय निवेदनों के माध्यम से द्विवेदीजी ने अपने भाषा-आदर्श को विस्तार से निरूपित किया। इन भाषा सिद्धान्तों को

१. सरस्वती फरवरी १९३९ ई०, पृ० २००।
२. वही, पृ० १९२।

उन्होंने सम्पादक पद से 'सरस्वती' के कवियों और लेखकों की रचनाओं का संशोधन करके कार्यान्वित किया। इसके अतिरिक्त भाषा-परिष्कार की प्रक्रिया में दूसरों के दोषों की तीव्र आलोचना और विभिन्न ग्रन्थकारों की भाषा विषयक त्रुटियों का निरूपण भी महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः उनके प्रखर प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व से भाषा-सुधारक और भाषा-उद्धारक की झलक प्रत्येक पग पर मिलती है। 'सरस्वती' की हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के निरीक्षण से द्विवेदीजी के भाषा-सुधारक रूप की अनुभूति अत्यन्त विशद होती है। भाषा-परिष्कार के इस महान कृत्य को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचित किया जा सकता है।

(१) **व्याकरण सम्मत भाषा**—तत्कालीन भाषागत निरंकुशता और अव्यवस्था को रोकने के लिए द्विवेदीजी ने व्याकरण सम्मत भाषा प्रयोग पर बल दिया। भाषा का स्वरूप व्याकरण के नियमों की अवहेलना से नहीं, अपितु उसके अनुसरण से ही निर्मित होता है व्याकरण भाषा के सर्वमान्य अपरिपक्व (Crude) रूप को सुसंस्कृत एवं सभ्य बनाता है।

खड़ी बोली के इस प्रारम्भिक काल में कई कारणों से व्याकरणगत त्रुटियों का व्यवहार आम हो गया था। अरबी-फारसी तथा अंग्रेज़ी भाषा के प्रभाव से, बोलियों और क्षेत्रीय भाषाओं के सम्पर्क से तथा कुछ निरंकुश अनुत्तरदायी व्यवहार से खड़ी बोली का कोई सुनिश्चित रूप स्थिर नहीं हो पा रहा था। कही लिंग की समस्या थी तो कहीं वचन की। कहीं स्वरगत तो कहीं वचनगत त्रुटियाँ थीं तो कहीं क्रियागत तथा कहीं कारकगत दोषों का प्रचलन था। द्विवेदीजी ने इस निरंकुशता और व्याकरण की अवहेलना को स्पष्ट शब्दों में अज्ञान का फल बताया। कवियों को समझाते हुए उन्होंने कहा—'कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है अशुद्ध का उतना नहीं होता। व्याकरण का विचार न करना कवि की तद्विषयक अज्ञानता का सूचक है।'[१] व्याकरण की अवहेलना से ही खड़ी बोली के विभिन्न रूपों अथवा शैलियों का जन्म हुआ। कोई अरबी-फारसी तो कोई अंग्रेज़ी व्याकरण का अनुसरण कर रहा था।

खड़ी बोली का निकटतम सम्बन्ध चूंकि संस्कृत से है, अतः यह आवश्यक था कि तत्कालीन अव्यवस्था को रोकने के लिए उसे अपनी परम्परा से सम्पृक्त किया जाए। इस प्रकार द्विवेदीजी ने लिखा था—'हिन्दी के शब्द-विचार में, हमारी समझ में, यथासम्भव संस्कृत-व्याकरण से सहायता लेनी चाहिए। संस्कृत-व्याकरण के समान अच्छा और कोई व्याकरण दुनिया में नहीं, उसे छोड़कर जो लोग उर्दू और फारसी के व्याकरण का आश्रय लेते हैं, वे मानो घर की कामधेनु के दूध का अनादर करके आक का दूध निकालने दौड़ते हैं।'[२] संस्कृत व्याकरण से सम्बद्ध होने पर खड़ी बोली एक सुनिश्चित परम्परा से सम्बद्ध हो गई। खड़ी बोली को 'खड़ा' रहने के लिए एक सुदृढ़ आधार की प्राप्ति हुई।

द्विवेदीजी ने व्याकरण के नियमों के पालन करने का समर्थन तो किया परन्तु व्याकरण को सर्वोपरि उन्होंने नहीं माना। व्याकरण को जन-भाषा का अनुसरण करने वाला उन्होंने माना। पुराने तथा नये लेखकों की व्याकरणगत त्रुटियों का उद्घाटन करने के पश्चात् भी उन्होंने व्याकरण के कार्य को स्पष्ट करते हुए, त्रयोदश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष पद से भाषण देते हुए कहा—'व्याकरण का काम सिर्फ इतना ही है कि लोग जैसी भाषा बोलें या लिखें उसकी वह संगतिमात्र लगा दें, उसके नियम-मात्र पर बल दे। उसे यह कहने

१. **रसज्ञ रंजन : महावीर प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी पुस्तक भंडार पटना, पृ० १८।**
२. **वाग्विलास : महावीर प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी पुस्तक भंडार पटना, सम्वत् १९८७ वि०, पृ० १३१।**

का कोई अधिकार नहीं है कि तुम इसी तरह बोलो या इसी तरह लिखो या इस शब्द का प्रयोग इसी लिंग में करो।'[१] वस्तुतः द्विवेदीजी प्रचलन और प्रयोग को अब प्रमुखता दे रहे थे। प्रारम्भिक नियम-बद्धता से खड़ी बोली को जो व्यवस्था और शुद्धता प्राप्त हो सकी, उसके सन्दर्भ में यह नवीन दिशा-परिवर्तन सराहनीय है। भाषा को व्याकरण के नियमों से अत्यधिक बाँधा नहीं जा सकता। इससे भाषा का विकास सम्भव नहीं हो पाता। द्विवेदीजी चूँकि हिन्दी की समृद्धि और प्रगति के महान् शुभाकांक्षी थे, अतः उन्होंने कहा—'वाग्धारा का प्रवाह रोका नहीं जा सकता एक शब्द या एक पद दो रूपों में भी प्रचलित हो सकता है और प्रचलित हो जाने से वैयाकरणों को अपने व्याकरणों में दोनों ही को स्थान देना पड़ता है।'[२] भावी भाषा प्रगति की ओर स्पष्ट संकेत करते हुए उन्होंने कहा था—'कोई लेखक भ्रमवश किसी शब्द का विरूप करे तो वह अवश्य अशुद्ध है। पर शिष्ट लेखकों के द्वारा जानबूझ कर किये गये ऐसे प्रयोग अशुद्धि की कोटि से निकलकर शुद्धि की कोटि में चले जाते हैं।'[३] अतः महावीर प्रसाद द्विवेदी के माध्यम से द्विवेदी युग में खड़ी बोली को जहाँ वैयाकरणिक समर्थता एवं नियम-बद्धता प्राप्त हुई वहाँ दूसरी ओर इसी युग में भाषागत स्वस्थ स्वच्छन्दता का भी प्रणयन हुआ। उसी सुदृढ़ आधार पर आधुनिक हिन्दी भाषा उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर आगे बढ़ रही है।

आचार्य द्विवेदी ने भाषा और व्याकरण सम्बन्धित अपने क्रान्तिकारी विचार, नवम्बर १९०५ ई० की 'सरस्वती में 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख लिखकर प्रस्तुत किए। वास्तव में इस लेख से तत्कालीन भाषागत अव्यवस्था और अस्थिरता के वातावरण में एक क्रान्ति उत्पन्न हो गई। लेख में द्विवेदीजी का मुख्य प्रतिपाद्य भाषा को सुसंस्कृत बनाना था। उन्होंने कहा कि भाषा का सुसंस्कृत होना व्याकरण के अनुसरण से ही सम्भव है। हिन्दी भाषा में व्याकरण के अन्तर्गत लिंग, क्रिया, कर्म, विभक्ति, समास इत्यादि सभी नियमों की समस्याएँ थीं। अतः इस लेख में द्विवेदीजी ने बाबू हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, गदाधर सिंह, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री (सिरसा) आदि शीर्षस्थ साहित्यकारों की क्रिया, कर्म आदि विषयक त्रुटियों को उद्धृत करके साहित्यिक जगत् में भाषागत जागरूकता की नवीन लहर उत्पन्न कर दी। इस लेख की अत्यन्त व्यापक प्रतिक्रिया हुई। पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, बाबू काशीप्रसाद जायसवाल, पं० पद्म सिंह शर्मा आदि ने तत्काल उसकी प्रशंसा की। पं० श्रीधर पाठक ने भी द्विवेदीजी को प्रशंसात्मक पत्र लिखा। वे द्विवेदीजी के लेख के अधिकांश भाग से सहमत थे; किन्तु कई स्थानों पर उन्होंने असहमति भी प्रकट की।[४] द्विवेदीजी हिन्दी को व्यापक एवं व्यवस्थित बनाने का निश्चय कर चुके थे, अतः उन्होंने किसी प्रकार के विरोध या अवरोध को अपने कार्य की बाधा न माना। वे निरन्तर प्रयत्नशील रहे। उदाहरण के लिए—तत्कालीन भाषा में 'जो', 'तो', 'जब', 'तब' के प्रयोगों में अस्थिरता थी। इन शब्दों का प्रयोग अनेक शब्द रूपों की भाँति निरंकुशता से होता था। द्विवेदीजी ने इसी लेख में इस अव्यवस्था को इंगित करते हुए लिखा—'हिन्दी में जब, तब और जो (यदि), तो के प्रयोगों में भी बड़ी गड़बड़ी है।............'जब' और 'तब' समय वाचक है और 'जो' और 'तो' नहीं। 'जो' और 'तो' का प्रयोग वहाँ अधिक अच्छा लगता है जहाँ किसी तरह की शर्त होती है,

१. त्रयोदश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कानपुर १९२३ ई० कार्य विवरण प्रथम भाग, पृ० २५।
२. वही, पृ० २७।
३. वही, पृ० २७।
४. वाग्विलास : महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० १०८-९ तथा १३६-३७।

क्योंकि उनसे शर्त ही का अर्थ निकलता है।'[1] इस प्रकार के सुधार से द्विवेदीजी हिन्दी वाक्य-रचना की भिन्नता को मिटाने का प्रयत्न कर रहे थे। हिन्दी भाषा के पास उस समय किसी सर्वमान्य व्याकरण का अभाव था। 'ऐसा एक भी व्याकरण नहीं, जिसमें सब बातों का विचार किया गया हो। इसी से हिन्दी की दशा अनस्थिर हो रही है। एक तो हिन्दी भाषा में साहित्य का एक प्रकार से अभाव ही है, दूसरे उसकी अनस्थिरता उसे और बरबाद कर रही है। जिस अखबार को उठाइए, जिस पुस्तक को उठाइए, सब की वाक्य-रचना में आपको भेद मिलेगा।'[2] इस भेद के कारण ही भाषा का ह्रास और उसके व्यक्तित्व का लोप धीरे-धीरे होता है। भाषा के व्यक्तित्व के रक्षण और पोषण का कार्य आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्रमुख रूप से 'सरस्वती' के माध्यम से किया। सरस्वती में प्रकाशनार्थ आई हुई रचनाओं का संशोधन उन्होंने सिद्धहस्त आचार्य की भाँति किया। 'सरस्वती' तत्कालीन साहित्यिक जगत् की आदर्श पत्रिका थी। 'सरस्वती' में साहित्य, भूगोल, इतिहास, राजनीति, भाषा-शास्त्र एवं विज्ञान इत्यादि सभी विषयों पर उच्चकोटि की रचनाएँ निरन्तर प्रकाशित होती थीं। 'सरस्वती' में प्रकाशित रचना प्रत्येक रचनाकार के लिए गौरव और सम्मान का विषय था। आकर्षक साज-सज्जा में संवरी इस पत्रिका के पीछे जिस अद्वितीय कर्मठता और कृतसंकल्पता से द्विवेदीजी कार्यरत थे, वह अद्वितीय है। इन रचनाओं में कृत भाषा का कायाकल्प ऐतिहासिक है।

उदाहरण के लिए द्विवेदीजी के द्वारा किए गए कतिपय संशोधनों को उद्धृत किया जाता है। व्याकरण के सभी अंगों में यह संशोधन किए गए हैं। तत्कालीन तथा आधुनिक युग के प्रायः सभी शीर्षस्थ साहित्यकारों की भाषा में कहीं-न-कहीं संशोधन उन्होंने किए—

१. स्वरगत संशोधन—

मूल	संशोधित	मूल	संशोधित
दशावों	**दशाओं**	**चंडाल**	**चांडाल**
आगामि	**आगामी**	**ह्रिदय**	**हृदय**
बलीदान	**बलिदान**	**चाहिये**	**चाहिए**[3]

२. व्यंजनगत संशोधन—

मूल	संशोधित	मूल	संशोधित
बर्सना	**बरसना**	**झूंठा**	**झूठा**
स्मशान	**श्मशान**	**उभर**	**उभ्र**
पाओं	**पावों**	**दु:खड़े**	**दुखड़े**[4]

३. संज्ञा सम्बन्धी संशोधन—

मूल	संशोधित
प्रकृति परिचय ! हीनता	प्रकृति-परिचय हीनता
फासला पर	फासले पर[5]

१. वाग्विलास : महावीर प्रसाद द्विवेदी, दे० पृ० १०२-१०४।
२. वही, पृ० ८९।
३. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग : उदयभानु सिंह, पृ० २१३-२१६।
४. वही, पृ० २१७-२१९।
५. वही, पृ० २२१।

४. सर्वनाम सम्बन्धी संशोधन—

मूल	संशोधित
यह रेल की सड़क पर है	**वह** रेल की सड़क पर हैं
पाठक.......... **तुझे**	पाठक.......... **आपको**
मेरा मित्र.......टहलने लगे	**मेरे** मित्र..........
कुछ एक ने..........	**कई** एक ने.......[1]

५. क्रिया सम्बन्धी संशोधन—

मूल	संशोधित
समझी **जानी** लगी है	समझी **जाने** लगी है
होता जाता है	होता आया है

—(रामचन्द्र शुक्ल 'कविता क्या है' १९०९ ई०)

जाना पड़ता है.......इस प्रयोग की सृष्टि हुई हो—**जान** पड़ता है।

—(कामता प्रसाद गुरू—हिन्दी व्याकरण १९०६ ई०)[2]

६. लिंग सम्बन्धी संशोधन—

मूल	संशोधित	मूल	संशोधित
उनके स्पर्शेन्द्रिय	**उनकी** स्पर्शेन्द्रिय	**के** शुद्धि	**की** शुद्धि
की सामर्थ्य	**का** सामर्थ्य	**की** लालच	**का** लालच
हमारे संतान	**हमारी** संतान	शव **थी**	शव **था**[3]

७. वचन सम्बन्धी संशोधन—

मूल	संशोधित
बीमाओं	**बीमों**
यह दोनों	ये दोनों
अनेक **बाधा**	अनेक **बाधाएँ**
लालच या धमकी ऐसी है **जिनसे** योद्धों	लालच या धमकी ऐसी है **जिससे** योद्धाओं[4]

८. कारक सम्बन्धी संशोधन—

मूल	संशोधित
शरीर में.......रगड़ने लगा	**शरीर से**.......रगड़ने लगा
मुझे हंसकर कहा.......	**मुझसे** हंसकर कहा
संक्षेप से	**संक्षेप में**
स्नायु में आघात **होने पर**	स्नायु पर आघात **होने से**
उसकी वृत्ति बनाई	**उस पर** वृत्ति बनाई[5]

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग : उदयभानु सिंह, पृ० २२१-२२२।
२. वही, पृ० २२३-२२४।
३. वही, पृ० २२५-२२६।
४. वही, पृ० २२७-२२८।
५. वही, पृ० २२९-२३१।

६. उपसर्ग एवं प्रत्यय—

मूल	संशोधित	मूल	संशोधित
एकत्रित	**एकत्र**	**उद्देश्य**	**उद्देश**
अजीत हो गया	**अजेय**	**उत्पति**	**उत्पत्ति**
संमति	**सम्मति**	**महान्ता**	**महत्ता**
परज्वलत	**प्रज्वलित**	**सौन्दर्यता**	**सौंदर्य**
चैतन्यता	**चेतनता**[1]		

इसके अतिरिक्त शब्द निर्माण की प्रक्रिया में साहित्यकारों ने पांडित्य-प्रदर्शन की होड़ में कहीं संस्कृत और अंग्रेज़ी तो कहीं अरवी-फारसी शब्दों के प्रयोग किए। सामान्यतः भाषा इसी नीति से अव्यावहारिक हो जाती है। इससे भाषा में निरंकुशता एवं क्लिष्टता बढ़ती है। इसको रोकने के लिए द्विवेदीजी ने इन शब्दों के स्थान पर सरल व्यावहारिक शब्दों को प्रश्रय दिया। उदाहरण के लिए—

(क) संस्कृत शब्दों के स्थानापन्न शब्द—कृतविद्य-विद्वान, आधुनिक-आजकल की, त्यागना-छोड़ना, अर्वाचीन-नवीन, चारु कार्य और शिल्प-कारीगरी, एकान्ततः-सिर्फ, द्रव्यगत सौंदर्य-पार्थिव सौंदर्य, दक्षिण पार्श्व-दाहिनी तरफ इत्यादि।[2]

भाषा में प्रयुक्त अन्य ग्रामीण वोलियों, भाषाओं अथवा उपभाषाओं के शब्दों का भी बहिष्कार द्विवेदीजी ने साथ-साथ ही किया। प्रायः ये शब्द हिन्दी भाषा (खड़ी बोली) के तत्कालीन स्वरूप के अंग ही बन चुके थे किन्तु भाषा के स्वरूप के अनुकूल न होने के कारण खड़ी बोली के स्वरूप को विकृत करने के अतिरिक्त और कोई शोभा नहीं बढ़ा रहे थे, उदाहरणार्थ--अब लों—अब तक, वा—या, सो—इससे, जब लों—तब लों, जब तक—तब तक, आँखें उघाड़ों—आँखें खोलो, जब ·· ·······तो एक जना—जब···········तब एक आदमी इत्यादि।[3]

उपर्युक्त विवेचन खड़ी बोली के रचनात्मक आन्दोलन की ओर इंगित करते हुए दो तथ्यों को सामने लाता है। वह युग भाषा को एक सर्वसामान्य एवं प्रचलित रूप देने के लिए तथा उसे शुद्ध एवं संस्कृत बनाने का संकल्प कर चुका था। किन्तु यह संकल्प हठवाद और शुद्धतावाद नहीं था। इसमें विकास और प्रगति की स्वच्छन्दता भी संलग्न थी। वैय्याकरणों को भाषा का उद्धारक और शोधक तो स्वीकार किया गया किन्तु पांडित्य और रूढ़िवाद को भाषा पर लादने की आज्ञा न दी गई। भाषा की स्वस्थ स्वच्छन्दता ही इस युग की नीति रही।

(ख) **हिन्दी का शब्द भंडार**—आन्दोलन की प्रक्रिया में वैयाकरणिक अस्थिरता के बाद भाषा की शब्द ग्राह्यता एवं भाषा के शब्द भंडार को समृद्ध करने के लिए शब्द निर्माण की भी अस्थिरता तत्कालीन साहित्यिक जगत में थी। विभिन्न मतों और मान्यताओं के प्रभाव से हिन्दी के शब्द भंडार को भरने के लिए उपयुक्त शब्दों को चुनने में काफी मतभेद था। संस्कृत के विद्वान संस्कृत, अरवी-फारसी के विद्वान अरबी-फारसी, अंग्रेज़ी के विद्वान अंग्रेज़ी तथा उपभाषाओं और वोलियों के विद्वान प्रान्तीय शब्दों का व्यवहार खड़ी बोली के

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग : उदयभानु सिंह, पृ० २३३-२३४।
२. वही, पृ० २४२-२४३।
३. वही, पृ० २४४।

गद्य-पद्य में करते थे। इन विद्वानों में भी आपसी मतभेद था। कोई प्रचलित सर्वमान्य सिद्धांत हिन्दी की शब्द ग्राह्यता के लिए अभी बन नहीं पाया था।

भाषा के शब्द भंडार के लिए किसी मान्य सिद्धान्त का निर्माण करना न तो आवश्यक है और न ही उपादेय। भाषा में प्रचलित अन्य भाषाओं के शब्द भाषा के अंग बन जाते हैं। शुद्धतावाद के अन्तर्गत न तो उन्हें निष्कासित करने की आवश्यकता है और न ही नवीनता और पांडित्य प्रदर्शन के फेर में अप्रचलित नवीन शब्दों को भरने की। द्विवेदीजी ने इस भाषा वैज्ञानिक तथ्य का समर्थन इन शब्दों में किया—'मेरी राय में शब्द चाहे जिस भाषा के हों, यदि वे प्रचलित शब्द हैं और सब कहीं बोलचाल में आते हैं तो उन्हें हिन्दी के शब्द समूह के बाहर समझना भूल है। उनके प्रयोग से हिन्दी की हानि नहीं, प्रत्युत लाभ है। अरबी-फारसी के सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जिनको अपढ़ आदमी तक बोलते हैं। उनका बहिष्कार किसी प्रकार सम्भव नहीं।[1] हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में, द्विवेदीजी ने इस बात का पुनः समर्थन अधिक व्यापक ढंग से किया '...... जिस तरह शरीर के पोषण और उपचय के लिए बाहर के खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है वैसे ही सजीव भाषाओं की बाढ़ के लिए विदेशी शब्दों और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिसमें ऐसा होना बन्द हो जाता है वह उपवास सी करती हुई किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव-सी जरूर हो जाती है।'[2] अतः द्विवेदी हिन्दी के शब्द भंडार को सीमित एवं संकुचित नहीं बनाना चाहते थे। भाषा विज्ञान के नियमों को वे भलीभाँति समझते थे। इसीलिए उन्होंने न केवल अन्य भाषाओं के उपयुक्त एवं प्रचलित शब्दों को ग्रहण करने का विचार प्रस्तुत किया अपितु अन्य भाषाओं के माध्यम से प्रसूत ज्ञान एवं भाव राशि को भी समेटने का आग्रह किया। एक समृद्ध भाषा और एक समुन्नत देश की राष्ट्रभाषा के लिए दोनों बातें आवश्यक एवं अनिवार्य हैं। भविष्य द्रष्टा की भाँति इसीलिए १९०५ ई० में ही उन्होंने इस तथ्य का उद्घाटन किया था। 'हिन्दी को कालसह अर्थात् कुछ काल के लिए स्थायी करने के लिए जरूरी बात है कि उसकी रचना व्याकरण विरुद्ध न हो, उसमें सिर्फ ऐसे-ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जो विशेष व्यापक हों अर्थात् जिन्हें अधिक प्रान्तों के आदमी समझ सकें।'[3]

संक्षेप में कहा जाय तो प्रस्तुत युग, भाषा के शब्द-निर्माण और उसकी ग्राह्यता को व्यापक दृष्टि प्रदान करने को आकुल हो रहा था। हिन्दी को अधिकाधिक प्रचलित और अधिकाधिक सुसंस्कृत बनाना महावीर प्रसाद द्विवेदी का ध्येय था।

(ग) विषयानुकूल भाषा एवं अर्थ सौरस्य—भाषा के स्वरूप को व्यवस्थित करने भर से ही काम न चलता। तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दों के अस्थिर प्रयोग और शब्दों के अभाव के अतिरिक्त खड़ी बोली में वर्तमान शब्दों का प्रयोग यथास्थान एवं उपयुक्त नहीं हो रहा था। भाषा को जानने के पश्चात् भाषा को समझने और उसके समुचित प्रयोग की आवश्यकता थी। स्वर्गीय गुप्तजी के नाम द्विवेदीजी का पत्र इस तथ्य की ओर इंगित करता है। कवि तथा साहित्यकार भाषा और भाव के सामंजस्य से उत्पन्न अर्थ सौरस्य की ओर ध्यान नहीं दिया करते थे। इसीलिए

१. सरस्वती—अक्टूबर १९११ ई०, पृ० ४७३।

२. त्रयोदश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कानपुर १९२३ ई० कार्यविवरण प्रथम भाग (स्वागताध्यक्ष का भाषण), पृ० २२।

३. 'वाग्विलास' : महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० १०६।

द्विवेदीजी साहित्यकारों को सावधान करते हुए कहते हैं—'विषय के अनुकूल शब्द-स्थापना करनी चाहिए। कविता एक अपूर्व रसायन है। उसके रस की सिद्धि के लिए बड़ी सावधानी, बड़ी मनोयोगिता और बड़ी चतुराई आवश्यक होती है।'[1] शब्दों को यथास्थान न रखने से कविता की दुर्दशा होती है। उसके अर्थ की प्रभावोत्पादकता नष्ट हो जाती है। अर्थ ही कविता का मर्म है। उस अर्थ को सुरस बनाना ही कवि का कर्त्तव्य है। अर्थहीन और अनुपयोगी शब्द लिखे जाने से तथा शब्दों के प्रकृत रूप को विगाड़ने से काव्य के गुण का ह्रास होता है। अर्थ चमत्कार और सौरस्य पर बल देते हुए द्विवेदीजी ने इसी विचार को प्रस्तुत किया—'अर्थ सौरस्य ही कविता का प्राण है। जिस पद्य में अर्थ का चमत्कार नहीं, वह कविता ही नहीं।'[2] किन्तु शर्त यही है कि भाषा के शुद्ध स्वरूप को हानि पहुँचाए बिना ही विषयानुकूल भाषा का प्रयोग हो।

(घ) **काव्य-विषय** - द्विवेदी-युग में खड़ी बोली का आन्दोलन आन्तरिक आन्दोलन था। खड़ी बोली को राष्ट्रीय सम्मान से मंडित करने के लिए यह आवश्यक था कि उसका स्वरूप सुघड़ और सुसंस्कृत हो। भाषा सर्वसामान्य के व्यवहारोपयोगी होकर देश की जनता की आवाज़ बन सके। अतः भाषा के इस स्वरूप-निर्माण के पश्चात्, आन्दोलन का एक आवश्यक अंग, इस भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त विषय थे।

ब्रजभाषा काव्य की भव्य परम्परा के सामने खड़ी बोली किन विषयों को लेकर अकेले ही राष्ट्रभाषा बन सकती है, यह एक आवश्यक प्रश्न था। स्पष्ट था कि ब्रजभाषा ने जिस प्राचीन परम्परा को अभी तक निभाया था, उसके विरुद्ध नवीनता और आधुनिकता को ही खड़ी बोली प्रश्रय दे। ब्रजभाषा ने अधिकांशतः जिस सामन्ती जीवन-दर्शन को प्रस्तुत किया था उसके विपरीत खड़ी बोली को सहज सामान्य जीवन-मूल्यों और आदर्शों को प्रस्तुत करना था, जिनसे जनता और देश में नवीन जागृति की लहर उत्पन्न हो। आदर्श भारतीयता के प्रतीकों को समेटना खड़ी बोली का कार्य था। अतः इस युग के भाषा-आन्दोलन में विषयों की महत्ता बढ़ी। अब न केवल भाषा के शुद्ध और व्याकरण-सम्मत होने की अनिवार्यता अनुभव की गई अपितु नवीन बौद्धिक क्रान्ति से उत्पन्न नवीन जागरण और राष्ट्रीयता, स्वच्छन्दता और निर्भीकता, धैर्य और साहस इत्यादि काव्य-विषयों के उपादान बने।

तत्कालीन भाषा-संक्रान्ति की सूक्ष्मताओं को समझाते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उपयुक्त ही कहा—"आजकल हिन्दी संक्रान्ति की अवस्था में है। हिन्दी-कवि का कर्त्तव्य यह है कि वह लोगों की रुचि का विचार रखकर अपनी कविता ऐसी सहज और मनोहर रचे कि साधारण पढ़े-लिखे लोगों में भी पुरानी कविता के साथ-साथ नई कविता पढ़ने का अनुराग उत्पन्न हो जाय।"[3] जनता की रुचि का ध्यान रखना राष्ट्रभाषा का प्रथम कर्त्तव्य है, तभी उसकी व्यापकता और जनप्रियता सम्भव है। अतः इस जन-रुचि के अनुकूल विषय चुनना कवि का धर्म है। साथ ही अपने भावों को जन-रुचि के अनुसार ही सरल एवं सहज भाषा और सीधे, सरल एवं परिचित छंदों में अभिव्यक्त करना आवश्यक है। स्वयं द्विवेदीजी ने शास्त्रोक्त गुणों को त्याग कर तत्कालीन कविता के लिए निम्न तत्त्व आवश्यक समझे—

(१) कविता में साधारण लोगों की अवस्था, विचार और मनोविकारों का वर्णन हो।

१. रसज्ञ रंजन : महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० १८।
२. वही, पृ० २०।
३. वही, पृ० २९।

(२) उसमें धीरज, साहस, प्रेम और दया आदि गुणों के उदाहरण रहें।

(३) कल्पना-सूक्ष्म और उपमादिक अलंकार गूढ़ न हों।

(४) भाषा सहज, स्वाभाविक और मनोहर हो।

(५) छंद सीधा, परिचित, सुहावना और वर्णन के अनुकूल हो।[1] ब्रजभाषा की परम्परा के सम्मुख ये तत्त्व सामान्य अवश्य लगते हैं, किन्तु तत्कालीन काव्य-स्थिति को दृष्टि में रखते हुए ये तत्त्व परमावश्यक एवं बड़ी सूझ-बूझ के द्योतक हैं। खड़ी बोली के क्रमिक विकास को देखते हुए ये तत्त्व सुदृढ़ आधार थे। खड़ी बोली के इस प्रारम्भिक काल में ब्रजभाषा की समृद्ध परम्परा का उत्तर, भाषागत माधुर्य से अधिक, जनरुचि-अनुमोदित विषयगत उपलब्धियों को प्रस्तुत करने से दिया जा सकता है।

ब्रजभाषा कवियों का विरोध—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि खड़ी बोली के समर्थक अब एक झंड़े के नीचे रचनात्मक ढंग से अपनी मान्यताओं को ठोस रूप देने का निरन्तर प्रयास कर रहे थे। इस सम्मिलित प्रयास का समुचित फल यह रहा कि खड़ी बोली का विरोध ब्रजभाषा के कवियों द्वारा उतना तीव्र न हुआ जितना पूर्व के युग में हुआ था। यह विरोध अब अवसान पर था। इस युग में आकर स्वयं ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों ने खड़ी बोली का समर्थन किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ब्रजभाषा में काव्य-रचना छोड़ खड़ी बोली में काव्य रचना प्रारम्भ की। सन् १९०० में वेंक्टेश्वर 'समाचार' में छपी उनकी "हे कविते" में उन्होंने परम्परागत रूढ़ियों का विरोध किया था। 'सरस्वती' के माध्यम से ब्रजभाषा का रूढ़िग्रस्तता पर धीरे-धीरे प्रहार होने लगे। खड़ी बोली के काव्य-रूप का क्षेत्र दिनोंदिन बढ़ता चला गया। 'कविता कलाप' (१९०९ ई०) तक आते-आते द्विवेदीजी ने कहा, 'इस नए ढंग की कविताएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होते देख बहुत लोग अब इनकी नक्ल अधिकता से करने लगे हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि इस तरह की और इस तरह के छंदों में लिखी गई कविता दिन पर दिन लोगों को अधिकाधिक पसन्द आने लगी है। अतएव बहुत सम्भव है कि किसी समय हिन्दी के गद्य और पद्य की भाषा एक ही हो जाय।'[2] इस सम्भावना का ठोस रूप केवल छः साल बाद ही सामने आया। मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, नाथूराम 'शंकर' शर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पांडेय, बदरीनाथ भट्ट, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि ने हिन्दी काव्य-भंडार को खड़ी बोली-काव्य की अमर रचनाओं से भर दिया था। १९१४ ई० तक आते-आते स्वयं द्विवेदीजी ने आश्वस्त होकर 'सरस्वती' में 'बोलचाल की हिन्दी' लेख में कहा था कि कहीं भी कोई पत्रिका उठाइए बोलचाल की भाषा में कविता आपको मिलेगी। स्थिति बदल चुकी थी। ब्रजभाषा आक्रामक न रहकर अपनी रक्षा के साधन ढूँढ़ रही थी। परिवर्तन की अजस्र एवं अथाह धारा-प्रवाह में ब्रजभाषा के कवि भी खड़ी बोली-काव्य की सेवा में लगकर नवीन इतिहास की नींव डाल रहे थे। इस नींव पर का भवन १९२५ ई० तक सुदृढ़ एवं भव्य बन चुका था। द्विवेदीजी का सपना साकार रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।

प्रस्तुत युग के इस बदले हुए वातावरण में ब्रजभाषा के कवियों और समर्थकों द्वारा छुटपुट रूप से विरोध चलता रहा। यह विरोध ब्रजभाषा के दीर्घकालीन सम्पर्क से उत्पन्न मोह की भावना से हो रहा था। ब्रजभाषा की क्षमताओं में अधिक विश्वास के कारण यह विरोध पूर्व के युग में तीव्र और कटु था। अब खड़ी बोली की बढ़ती हुई क्षमताओं के समक्ष

१. रसज्ञ रंजन : महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० २९।

२. कविता कलाप : संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी—इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९२१ ई० (भूमिका), पृ० ३।

यह विरोध क्षीण हो चुका था। खड़ी बोली कविता के विविध अंगों को लेकर यह विरोध सामान्यतः हिन्दी साहित्य सम्मेलन के विभिन्न अधिवेशनों, कवि सम्मेलनों तथा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से होता रहा। संक्षेप में विरोध के मुख्य तर्क-वितर्क इस प्रकार से थे।

खड़ी बोली की अक्षमता और अयोग्यता—ब्रजभाषा-कवियों और समर्थकों ने इस युग के प्रारम्भिक वर्षों में यह बात फिर दोहराई कि खड़ी बोली वास्तव में काव्य-रचना के उपयुक्त नहीं है। यह 'बाजारू' भाषा है, किसी स्वस्थ पद्य-परम्परा का निर्माण इसमें नहीं हो सकता। 'प्रेमधन' जी ने तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय पद से इसको 'चूरन वालों की वाणी', 'बिरहे' तथा 'पचड़ी' की भाषा कहा। इस भाषा में रचे जाने वाले काव्य को उन्होंने 'निम्न कोटि के पद्य' भी घोषित किया था।[1] खड़ी बोली की अयोग्यता को स्पष्ट करते हुए राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने कहा— 'खड़ी बोली के नाम से ही विदित है कि उसका काम है खड़ी रहना, इसलिए उसे दर्बार, अदालत, बाजार इत्यादि में जगह मिल गयी उसको उन ऊँचे और सुरम्य स्थानों में खड़ी होने का उत्साह न करना चाहिए जहाँ केवल श्रीमती ब्रजभाषा इत्यादि का सुख से आराम करने का अधिकार है।"[2] 'पूर्ण' जी के ये तर्क और आक्षेप अत्यन्त रूढ़ थे। इनमें किसी प्रकार की नवीनता नहीं थी। खड़ी बोली का मज़ाक उड़ाने भर से काम चलना होता, तो भारतेन्दु-युग में इसका काफी मज़ाक उड़ चुका था। उसके सामने अब इस प्रकार के तर्क निरर्थक प्रतीत होते हैं। पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी इस युग में ब्रजभाषा के प्रबल समर्थकों में से एक हैं। द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में उन्होंने खड़ी बोली का मज़ाक बनाकर ब्रजभाषा का समर्थन किया था। इसका विरोध करते हुए भगवती प्रसाद वाजपेयी ने लिखा था कि यदि खड़ी बोली इतनी अशक्त और अयोग्य है तो हिन्दी भाषा और साहित्य के अखिल भारतीय सम्मेलन में इस विषय का प्रस्ताव ही क्यों न रखा गया कि खड़ी बोली में काव्य सर्जना बन्द कर दी जाय—'तब तो आवश्यकता इस बात की थी कि कानपुर के गत हिन्दी साहित्य सम्मेलन में इसी आशय का एक प्रस्ताव रखा जाता कि चूँकि खड़ी बोली में सुन्दर और मधुर कविता हो ही नहीं सकती, अतएव हिन्दी साहित्य सम्मेलन सेवियों का कर्तव्य है कि वे खड़ी बोली में कविता करना बन्द कर दें और ब्रजभाषा में ही कविता करें।'[3]

खड़ी बोली को अशक्त और अक्षम कहने वाले वास्तव में तत्कालीन वैचारिक प्रगति और जन-जागरण का विरोध कर रहे थे। खड़ी बोली देश को नई आवाज की अभिव्यक्ति थी। समूचे राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने वाली भाषा का विरोध देश-द्रोही ही करते हैं। गुप्त जी ने पाँचवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन में 'हिन्दी कविता किस ढंग की हो' शीर्षक लेख में इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए ब्रजभाषा के काव्य-विषयों को समाज विरोधी और जन-साधारण के लिए हानिकारक घोषित किया। खड़ी बोली के विरोधियों को लक्ष्य करते हुए उन्होंने कहा 'जो लोग खड़ी बोली को कविता के योग्य नहीं समझते और पुरानी भाषा में ही, जिसे खड़ी बोली वाले चाहें तो पड़ी बोली कह सकते हैं..........कविता किये जाने का आग्रह करते हैं, वे सच पूछिए तो हमारी राष्ट्रभाषा के जानी दुश्मन हैं।'[4] गुप्तजी की इस चेतावनी पर

१. तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कार्य विवरण, प्रथम भाग, पृ० ४१।
२. चन्द्रकुमार भानुकला नाटक—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' (भूमिका), पृ० ८।
३. 'माधुरी', वर्ण १, खंड २, पृ० ३७७।
४. पंचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन : कार्य विवरण भाग २, पृ० ५८।

किसी ने ध्यान नहीं दिया। कविवर 'रत्नाकर' ने अखिल भारतीय हिन्दी कवि सम्मेलन, कानपुर में खड़ी बोली को एक कृत्रिम शैली की संज्ञा प्रदान की थी।[1] और इसी प्रकार खड़ी बोली की आलोचना तिरस्कार रूप में करते हुए पं० चन्द्रमोहन मिश्र ने भी लिखा—'देश का नाम लेकर एक आध इधर-उधर के लटके सुनाओ और सुकवि बन जाओ। वंदनीय महाशयों से अति विनयपूर्वक प्रार्थना है कि इस साहित्य परिवर्तन के युग में नव मुरीद हिन्दी के प्रिय पाठकों को ऐसी शिक्षा न दें जिससे सत्कवियों का तिरस्कार ही नहीं वरन् काव्य का आदर्श भी भ्रष्ट हो जाये।'[2] इस कटु आलोचना और विरोध के विपरीत खड़ी बोली के कवि माधुर्य और लालित्य को काव्य-भाषा में लाने का सतत् प्रयत्न कर रहे थे। इन विविध आरोपों का उत्तर महावीरप्रसाद द्विवेदी ने १९१४ ई० में इस प्रकार दिया था—'बोलचाल की भाषा को खड़ी बोली कहकर उसके पुरस्कर्ताओं की निन्दा और उपहास करने से ब्रजभाषा का गौरव नहीं बढ़ सकता। ………बोलचाल की हिन्दी में कविता करने वालों को इस तरह के निन्दावाद की कुछ भी परवाह न करके गुणवती कविता लिखने में चुपचाप लगे रहना चाहिए।'[3] युग-प्रवर्त्तक ने इस 'चुपचाप लगे रहने' के मंत्र से खड़ी बोली काव्य को समृद्ध कराया। ब्रजभाषा के समर्थक पुरानी लीक पीट रहे थे। नये वातावरण में नई दिशाओं की ओर खड़ी बोली कविता की प्रगति का मूल्यांकन करने से वे हिचक रहे थे। यह ठीक है कि प्रारम्भ में खड़ी बोली काव्य अपरिपक्व और अशक्त था। उसमें अपेक्षित काव्योचित लाक्षणिकता और रसात्मकता का समुचित प्रसार न हो पाया था। किन्तु उसमें ये सभी गुण आ जाने की पूरी आशा थी। युग के परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में इसी कविता की माँग हो रही थी। इसीलिए सन् १९०४ (चन्द्रकुमार भानुकला नाटक) में राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने खड़ी बोली का तीव्र विरोध करते हुए भी केवल दो साल बाद इसी भाषा में 'प्रदर्शिनी स्वागत' लिखा। राधाचरण गोस्वामी जैसे पुरानी पीढ़ी के खड़ी बोली विरोधी भी अब खड़ी बोली में लिखने लगे थे। लेकिन फिर भी खड़ी बोली का विरोध कुछ लोगों ने अपना कर्त्तव्य समझ लिया था। यहाँ तक कि यह विरोध कभी-कभी कटुता और आपसी छींटाकशी तक चला जाता। 'कविता कलाप' काव्य संग्रह की कटु आलोचना करते हुए 'धृष्ट समालोचक' ने गुप्तजी को लक्ष्य करते हुए लिखा था—'बड़े मियाँ तो बड़े मियाँ छोटे मियाँ सुबहान अल्लाह।' बाबू मैथिलीशरण गुप्त की तुकें संस्कृत की भाँति ह्रस्व और गुरु को नहीं गिनती। ………आपकी जितनी भाषा निराली है, उतनी ही व्याकरण भी—

वह अद्भुत छवि से अवनि का
इन्द्र भवन कहलाता था।

अवनी। पृथ्वी नहीं…………बाबू मैथिलीशरण गुप्त………(ने)………सरस्वती की एप्रेंटिसी खूब की है।[4] इसी प्रकार बड़े मियाँ को लक्ष्य करते हुए उन्होंने लिखा………… 'उनकी कविता में सार कुछ नहीं है। न शब्द-योजना ही अच्छी है, न भाव-कल्पना है, न वाणी ही के गुण हैं, न विचार ही है। 'कविता' निरी 'नग्न' तो अलग है ही, पर उसमें

१. खड़ी बोली का आन्दोलन : शिति कंठ मिश्र, पृ० २३५।
२. इन्दू : २ अगस्त १९१२ ई०, पृ० १४९।
३. सरस्वती अप्रैल १९१४ ई०, २२८-२९।
४. मर्यादा, भाग ६, संख्या १, पृ० ४९।

लड़कपन भी बहुत है। जिसकी आप जैसे वयोवृद्ध महात्मा से आशा नहीं थी।'[1] इस प्रकार की नकारात्मक प्रवृति से स्वयं ब्रजभाषा को हानि पहुँच रही थी। बदरीनाथ भट्ट ने कदाचित् ऐसे ही आलोचकों को समझाते हुए अपेक्षाकृत तीव्र स्वर में कहा था—'असल बात यह है कि ब्रजभाषा के अन्ध पक्षपात का परदा अभी लोगों के हृदय पर से अच्छी तरह नहीं हटा इसी से कोई-कोई सज्जन, आजकल हिन्दी कवियों ने नाम गिनाते समय खड़ी बोली के अच्छे से अच्छे कवि का भी नाम नहीं लेते,"''''' जो सज्जन''''''' विकास-सिद्धांत की दिन दहाड़े इज्ज़त उतारते हैं, जो कोरा वैमनस्य फैलाते हैं, जो आगे बढ़ने का दम भर कर मोह वश पीछे हटते हैं''''''''जो बूढ़ी गाय की मानिन्द बेचारी ब्रजभाषा को, आजकल के नवीन भावों की ईंटों से कुटी हुई सड़क पर जबरदस्ती सरपट दौड़ाना चाहते हैं उनसे हमारी यही प्रार्थना है कि ऐसा करके न तो वे ब्रजभाषा का कुछ उपकार ही कर सकते हैं और न खड़ी बोली का कुछ अपकार ही। हाँ, आपस के सद्भाव का संहार करके भेद का विस्तार वे अवश्य कर सकते हैं।'[2] खड़ी बोली की आन्तरिक शक्ति में खड़ी बोली के कवियों और समर्थकों को दृढ़ विश्वास था। वे कर्मठता से भाषा के साहित्य-भंडार की श्री-वृद्धि कर रहे थे। इन आक्षेपों से वे सर्वथा अप्रभावित से दीखते हैं।

खड़ी बोली की नीरसता और क्लिष्टता—ब्रजभाषा में माधुर्य की एक सशक्त परंपरा है। दीर्घकालीन प्रयोग से इसमें सुघड़ता उत्पन्न हुई है। शृंगार रस, रसों में सर्वाधिक मधुर रस है। आत्मनिष्ठ व्यक्ति इसी रस के विविध रूपों से आप्लावित रहता है। ब्रजभाषा काव्य चूँकि व्यक्तिनिष्ठ काव्य रह चुका है, अतः सामान्यतः उसके अधिकांश में इसी रस का सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं ऊहापोहात्मक वर्णन किया गया। फलतः इस कारण भी इसमें माधुर्य का प्रवेश हुआ। भक्ति रस के अन्तर्गत इस काव्य को गेय पदों ने संगीतात्मकता प्रदान की। सब मिलाकर ब्रजभाषा के सुमधुर रूप की एक निश्चित परिधि में स्थापना हो गई। प्रस्तुत युग न तो भक्ति के संगीत का युग था और न शृंगार के रूढ़ वर्णनों का काल था। युग की परिवर्तित परिस्थितियों की उपेक्षा करके ब्रजभाषा के समर्थक उसके माधुर्य की दुहाई देते हुए, खड़ी बोली को नीरस और कर्ण कटु कहने लगे। संस्कृत भाषा के सम्पर्क को उन्होंने क्लिष्टता की प्रवृत्ति बताया। 'प्रेमधन' जी ने तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में ब्रजभाषा के काव्य-भाषा होने का कारण इसका माधुर्य बताया। उनके मतानुसार माधुर्य से विच्छिन्न भाषा, काव्य में प्रयुक्त नहीं होनी चाहिए। खड़ी बोली में मधुरता कहीं लेश मात्र भी नहीं है। इसकी कविता नीरस है कर्णकटु है। मिश्रबन्धु ने इस नीरसता पर टिप्पणी करते हुए लिखा ''''''''आजकल खड़ी बोली में प्रायः शुष्क काव्य पाया जाता है और नीरसता का ऐसा समावेश है कि दस पृष्ठों की भी कविता साद्यान्त पढ़ जाना बड़े धैर्यवान व्यक्ति का काम है।'[3] मिश्रजी का यह कथन अत्युक्ति ही कहा जायगा। सन् १९१५ तक खड़ी बोली की शुष्कता समाप्त हो चुकी थी। 'प्रियप्रवास' इत्यादि अनेक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। भाषा की असमर्थता, कर्णकटुता, समाप्तप्राय थी। आज, प्रवाह, व्यंजकता इत्यादि गुण, भाषा में आ गए थे। किन्तु इस विकास की अवहेलना करते हुए विरोधी विरोध कर ही रहे थे।

ब्रजभाषा के माधुर्य का इतना मोह ब्रजभाषा समर्थकों को था कि वे हास्यास्पद तर्क भी प्रस्तुत किया करते थे। वियोगी हरि ब्रजभाषा के माधुर्य का प्रसार इतना मानते हैं कि

१. मर्यादा, भाग ६, संख्या १, पृ० ४९।
२. सरस्वती, मई १९१४ ई०, पृ० २६७-६८।
३. पुष्पांजलि, शुकदेव बिहारी मिश्र, १९१५ ई०, पृ० ३६३।

उन्हें ब्रजप्रदेश की स्त्रियों की गालियाँ भी मधुर लगती हैं। गुप्तजी के उपरोक्त लेख के विरोध में उन्होंने इस तर्क को प्रस्तुत करते हुए खड़ी बोली की तीव्र आलोचना की थी। यद्यपि खड़ी बोली में माधुर्य के अभाव का आक्षेप प्रारम्भिक वर्षों में ठीक था, तथापि इस आक्षेप को बार-बार आरोपित करना ब्रजभाषा के समर्थकों की निजी अक्षमता का द्योतक है। भाषा में माधुर्य का प्रसार दीर्घकालीन प्रयोग से ही सम्भव हो पाता है। अतः इस प्रकार के आरोप किसी तर्क सम्मत विरोध को प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं यह विरोध, विरोध के लिए सिद्धान्त का परिपालन मात्र है। पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का खड़ी बोली विरोध, दूसरे हिन्दी साहित्य सम्मेलन (खड़ी बोली काव्य के प्रगति काल) से लेकर कई वर्षों तक सामान्यतः एक-सा रहा। खड़ी बोली के विकास एवं उसके काव्य की क्षमताओं और उपलब्धियों की उपेक्षा करते हुए उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बारहवें अधिवेशन के सभापति के पद से भाषण देते हुए कहा था कि खड़ी बोली की कविता में भाव का अभाव है, ओज की खोज व्यर्थ है। लालित्य के सदा लाले पड़े रहते हैं प्रसाद का कहीं पता नहीं, रस क्या रसाभास भी नहीं अर्थ से अर्थ न मतलब से मतलब। खड़ी बोली के कवि एवं समर्थक इस थोथे विरोध की यथार्थता से परिचित थे। उन्हें विश्वास था कि ये तर्क और ये आक्षेप समय के साथ विलीन होते जायेंगे। माधुर्य की दुहाई देने वालों की भाषा को लक्ष्मीधर वाजपेयी ने १९०७ (हिन्दी ग्रन्थावली) में ही 'महिलाओं की भाषा' कहा था। पं० बदरीनाथ भट्ट ने सटीक टिप्पणी करते हुए लिखा—'प्राचीन शब्दों को तोड़-मरोड़कर उनका अंग-भंग करके, जो भाषा मधुर कहलाने का दावा करती है वह उस मनुष्य के समान है जो औरों पर पत्थर मार कर हंसता है और चाहता है कि लोग मेरी प्रशंसा करें।[१] कविता का माधुर्य, भाषा से उतना सम्भव नहीं है, जितना भाव वैभव से है। प्रत्येक संगीतात्मक रचना उच्च काव्य की कोटि में समाविष्ट नहीं हो सकती। काव्य के भाव पक्ष को समृद्ध कराने की प्रेरणा महावीर प्रसाद द्विवेदी आरम्भ से ही दे रहे थे। वे जानते थे कि काव्य का प्रमुख तत्त्व भाव है। एकादश हिन्दी साहित्य सम्मेलन में बाबू श्यामसुन्दरदास खत्री ने इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए कहा था—'कवि काव्योत्कर्ष का सृष्टिकर्ता है। भावों के अनूठेपन से वह भाषा में भी लालित्य और माधुर्य उत्पन्न कर देता है।'[२] खड़ी बोली काव्य में माधुर्य और लालित्य वास्तव में भाव-क्षेत्र के विस्तार से ही सम्भव हो सका। अतः ब्रजभाषा के समर्थकों का आरोप कि खड़ी बोली में काव्योचित माधुर्य नहीं है, व्यर्थ का परम्परा मोह था।

माधुर्य अभाव के दोष दर्शन के साथ ही खड़ी बोली पर इस युग में ब्रजभाषा के समर्थकों ने क्लिष्टता का दोषारोपण भी किया। जैसा कि पहले कहा गया है, आलोच्य युग में खड़ी बोली हिन्दी को एक सुनिश्चित एवं सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए संस्कृत भाषा-नीति हिन्दी को स्थायित्व प्रदान करने और भावी राष्ट्रभाषा के पद को ग्रहण करने के लिए आवश्यक थी। इस नीति के कारण संस्कृत के छन्दों के प्रयोग से भाषा में संस्कृत की समस्त पद शैली का भी प्रवेश हुआ। वर्ण-वृत्तों में रचित 'प्रियप्रवास' की आलोचना जगन्नाथ प्रसाद ने की। बालकृष्ण भट्ट ने यह शंका प्रकट की कि इस प्रकार के प्रयोगों से खड़ी बोली का कौन सा व्याकरण बन पाएगा।[३] पं० शुकदेव बिहारी मिश्र ने ऐसे प्रयोगों

१. सरस्वती, फरवरी १९२३ ई०, पृ० १०९।
२. एकादश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता, कार्य विवरण, पृ० ७८।
३. माधुरी, फरवरी १९२३ ई०।

की तीव्र आलोचना करते हुए 'पुष्पांजलि' में लिखा कि ये प्रयोग कर्णकटु हैं और इनसे श्रुति माधुर्य का सर्वथा लोप हो जाता है।[१]

इस विरोध के रहते हुए भी संस्कृत के तत्सम प्रयोग होते रहे। संस्कृत के तत्सम प्रयोग नए-नए कवियों के हाथ में आकर कभी-कभी क्लिष्ट हो जाया करते थे। संस्कृत भाषा अपने में मधुर भाषा है, फिर खड़ी बोली में उसके प्रयोग से कर्णकटुता और श्रुति अमधुरता का प्रश्न कहाँ से उठता है? पं० बदरीनाथ भट्ट ने 'सरस्वती' में इसी आशय को इस प्रकार व्यक्त किया—'बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस देववाणी के श्रुति-माधुर्य की इतनी डफली पीटी जाती है उसी के शब्द खड़ी बोली में आते ही नीरस हो जाते हैं।'[२] वस्तुतः संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग में दक्षता की आवश्यकता थी। स्वयं द्विवेदीजी निरंकुश पाण्डित्यपूर्ण तत्सम शैली के विरोधी थे। अतः खड़ी बोली, संस्कृत हुई जा रही है, यह आरोप उचित नहीं था। किन्हीं दो-एक उदाहरणों को लेकर समूचे काव्य को क्लिष्ट कह देना अन्याय था। 'प्रियप्रवास' की जिस शैली का विरोध पं० जगन्नाथ चतुर्वेदी ने किया था, उसी महाकाव्य की प्रशंसा में युग के प्रसिद्ध ब्रजभाषा के कवि 'कविरत्न' ने एक कविता रच डाली। आलोच्य युग में केवल संस्कृत गर्भित शैली का ही अनुसरण हुआ हो, ऐसा भी नहीं है। भाषा के सरल, प्रांजल एवं प्रवाहपूर्ण रूप की स्थापना मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, मुकुटधर पांडेय, सियारामशरण गुप्त, 'शंकर' इत्यादि कवियों ने की।

विरोध का अवसान—द्विवेदी युग में खड़ी बोली काव्य की बढ़ती हुई प्रगति के फलस्वरूप ब्रजभाषा के कवियों एवं समर्थकों का विरोध एक ऊपरी विरोध था। अब स्थिति बदल चुकी थी। ब्रजभाषा के कवि स्वयं समझौते के तौर पर कहने लगे कि यदि ब्रजभाषा के दिन लद गए हैं तो वह स्वयं समाप्त हो जायगी। उसका विराध न किया जाए। खड़ी बोली में खूब कविता हो। पर दूसरी भाषाओं में कविता होना मत रोको।"""" यदि अब ब्रजभाषा को कोई नहीं समझता है, यदि उसके दिन आ गए हैं, तो स्वयं ही उसमें कोई कविता न करेगा। समय के प्रभाव से कौन बच सकता है, परन्तु तुम अपने ऊपर क्यों इस कलंक को लेते हो।'[३] वास्तव में ब्रजभाषा के नायक-नायिका भेद और रूढ़ परम्पराओं का विरोध हुआ था। ब्रजभाषा में कविता रोकना, युग के किसी खड़ी बोली समर्थक का ध्येय न था। स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ऐसा ही कहा था और 'सरस्वती' के सम्पादन में इस नीति का प्रतिपालन भी किया था। सन् १९१४ में उन्होंने कहा था—'जो अब भी ब्रजभाषा में पद्य-रचना करते हैं उन्हें वैसा करने को कोई भी रोक नहीं सकता।'[४] ब्रजभाषा में कविता करने से किसी को रोका नहीं जा रहा था। स्वयं ब्रजभाषा के कवि या तो ब्रजभाषा छोड़ कर खड़ी बोली में कविता करने लगे थे, या दोनों भाषाओं में नवीन जीवन-दर्शन लेकर उपस्थित हो रहे थे। सन् १९१४-१५ तक आते-आते ब्रजभाषा के कवियों की संख्या कम होती गई। 'कवि और कर्तव्य' लेख में विद्यानाथ ने १९१२ ई० में लिखा—'पूर्ण कवि ने हमें यह उपदेश दिया है कि जो लोग खड़ी बोली से किसी प्रकार अप्रसन्न हैं वे भी अपनी पुरानी ब्रज (कविता) की बोली को बिना तोड़े-मरोड़े काम में ला सकते हैं और यदि वे चाहें तो खड़ी बोली में भी

१. पुष्पांजलि, १९१५ ई०, शुकदेव बिहारी मिश्र, पृ० २६२-६३।
२. सरस्वती, मई १९१४ ई०, पृ० २६६।
३. इन्दु कृष्ण बिहारी मिश्र, जनवरी १९१५ ई०, पृ० ११।
४. सरस्वनी, अप्रैल १९१४ ई०, पृ० २२८।

कविता कर सकते हैं।'[1] किन्तु वे स्वयं खड़ी बोली की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होते जा रहे थे। भारतेन्दु-युग के प्रसिद्ध ब्रजभाषा कवि 'प्रेमधन' 'मंयक महिमा' खड़ी बोली में प्रकाशित कर चुके थे। काव्य की इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए पं० बदरीनाथ भट्ट ने १९१३ ई० में लिखा था कि लोग ब्रजभाषा को यथोचित सम्मान देते हुए भी बोलचाल की भाषा का आदर करने लगे हैं। ब्रज के पुराने प्रेमी, मिश्र प्रेमी सब की संख्या घट रही है। बोलचाल की भाषा में उच्चकोटि की कविता होने लगी है और उसकी लोक प्रियता बढ़ रही है। कविता सरल और उपयोगी विषयों पर लिखी जाती है। नायिका भेद तथा अलंकारों की खींचातानी उसमें नहीं है।[2] भट्टजी की इस टिप्पणी में तत्कालीन काव्य-स्थिति का सम्पूर्ण चित्र है। अब ब्रजभाषा अपनी रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो रही थी। उसकी आक्रामक-स्थिति इतिहास का विषय बनती जा रही थी। इस स्थिति को और स्पष्ट करते हुए अयोध्या सिंह उपाध्याय ने १९२५ ई० में (अखिल भारतीय हिन्दी कवि सम्मेलन के खड़ी बोली विभाग के अध्यक्षीय पद से बोलते हुए) कहा था—'खड़ी बोली का आन्दोलन समाप्त हो गया है। तथापि इसकी कुत्सा करने वाले कुछ सज्जन अभी मौजूद हैं।' ब्रजभाषा का जो विरोध इस युग के प्रारम्भिक वर्षों में हुआ था, वह भी अब समाप्त हो चुका था। ब्रजभाषा की स्थिति दयनीय होती जा रही थी। इसकी भव्य परम्परा को ध्यान में रखते हुए तत्कालीन हिन्दी-प्रेमी इसके संरक्षण के विभिन्न प्रयास कर रहे थे। ब्रजभाषा की इस शोचनीय स्थिति पर पं० कृष्ण-बिहारी मिश्र ने 'मर्यादा' पत्रिका में भाव विह्वल होकर दुःख प्रकट किया था।[3] महाकवि 'हरिऔध' ने युग के अन्त में ब्रजभाषा की ऐसी दशा देखकर साहित्यिक जगत् को ब्रजभाषा काव्य की उदात्त परम्पराओं से परिचित कराने के लिए 'विभूतिमत्ती ब्रजभाषा' लेख लिखा।[4] अतः द्विवेदी-युग में खड़ी बोली का विरोध करते हुए ब्रजभाषा काव्य स्वयं अवसान की ओर प्रवृत्त हुआ। नवीनता को ग्रहण करने तथा नए वातावरण के साथ बदलने की जिन ब्रजभाषा कवियों में क्षमता थी, उन्होंने इस अवसान युग में भी उच्चकोटि की कविता की जैसे—सत्य-नारायण 'कविरत्न', दुलारेलाल भार्गव, वियोगी हरि, राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' इत्यादि।

इस सम्पूर्ण विवेचन के अन्त में निष्कर्षतः कुछ तथ्य खड़ी बोली काव्य-भाषा के विषय में सामने आते हैं। खड़ी बोली पर किए गए विविध आक्षेपों में जहाँ एक ओर ब्रजभाषा कवियों की न्यूनाधिक पूर्वाग्रही प्रवृत्ति कार्यरत थी; वहाँ दूसरी ओर इस विरोध में सत्य की मात्रा भी अवस्थित थी। युग के प्रारम्भिक वर्षों में 'गद्य और पद्य की भाषा एक हो' की नीति से काव्य में निस्संदेह गद्यात्मकता का प्रवेश हुआ। संस्कृत काव्य के सम्पर्क से समस्त पद शैली में अवश्य भाषा में कर्कशता और क्लिष्टता का भी समावेश हुआ। साथ ही कवियों ने जो यथातथ्य चित्रण की प्रणाली का अनुसरण किया, उससे भी काव्य में इतिवृत्तात्मकता का प्रसरण हुआ। इन सब कारणों से काव्य-भाषा में प्रांजलता और कोमलता का अभाव रहा है। आलोचकों ने तो इस प्रारम्भिक काव्य की प्रयोगात्मक स्थिति की शुष्कता को सारे युग पर लाद दिया है। वस्तुस्थिति यह है कि स्वयं द्विवेदीजी और 'सरस्वती' के माध्यम से

१. सरस्वती, जनवरी १९२२ ई०, पृ० ३८।
२. सरस्वती, १९१३ ई०, पृ० २२।
३. मर्यादा, मार्च १९१६ ई०, पृ० १४१।
४. पंचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, लखनऊ में ब्रजभाषा काव्य की दयनीयता पर 'कविरत्न' जी ने एक मार्मिक कविता का पाठ किया था।

भाषा का परिष्कार होता गया। धीरे-धीरे भाषा में सुस्थिरता आती गई। कवियों के सामने जब भाषा का एक निश्चित रूप उपस्थित हुआ तो वे उसको मांजने, अनुकूल बनाने एवं उसमें प्रवाह आदि लाने में लग गए। भाषा के व्यवस्थित रूप को स्वयं द्विवेदीजी ने 'बलीवर्द' से 'कुमारसम्भव सार' तक प्रस्तुत करने की चेष्टा की। 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने जिस भाषा-नीति को अपनाया उसकी प्रगति धीरे-धीरे होती रही। भाषा में माधुर्य और कोमलता का प्रसार दीर्घकालीन प्रयोग से ही सम्भव होता है। इस बात को मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं के क्रमिक विकास को देखकर और स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। 'सरस्वती' में उनकी पहली कविता हेमन्त (सन् १९०५) से, 'रंग में भंग' (सन् १९०९ ई०) तक भाषा गद्यात्मकता से प्रवाह और प्रांजलता को प्राप्त कर चुकी थी। भाषा के इस क्रमिक विकास को 'जयद्रथ वध' (१९१० ई०) से आगे भी देखा जा सकता है। सन् १९१० के बाद खड़ी बोली काव्य-भाषा प्रांजल और प्रवाह युक्त रूप धारण करती गई। उसमें उतरोत्तर माधुर्य और प्रसाद गुणों का समावेश होता गया। द्विवेदी युग के परवर्ती काल के कवियों ने इसको छाया-वादी लाक्षणिकता, चित्रमयता और नाद-सौन्दर्य के निकट लाकर रख दिया। यही कारण है कि खड़ी बोली काव्य-भाषा में मधुरता और प्रांजलता आने के पश्चात् ब्रजभाषा कवियों का विरोध स्वयमेव समाप्त हो गया। खड़ी बोली की सरस अभिव्यंजना शक्ति ने ब्रजभाषा कवियों के पूर्वाग्रह को निरुत्तर कर दिया।

अतः यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी-युग में खड़ी बोली का आन्दोलन भाषागत सौष्ठव एवं सौन्दर्य में परिणत हुआ। भाषा प्रांजलता, लालित्य, ओज और प्रवाह से नवीन लाक्षणिकता एवं व्यंजकता में शनैः शनैः परिवर्तित हुई। सन् १९२५ तक आते-आते खड़ी बोली काव्य के रूप में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुकी थी। वस्तुतः इस महान् ऐतिहासिक घटना को उस समय इतना मूल्यांकित नहीं किया जा सकता था, जितना बाद में हिन्दी-काव्य भाषा एवं साहित्य की अभूतंपूर्व प्रगति को दृष्टि में रखकर किया जा सकता था। यही कारण है कि द्विवेदी युग में गुप्तजी एवं खड़ी बोली की काव्य भाषा का तीव्र विरोध करने वाले वियोगी हरि अब इस युग की कर्मनिष्ठा एवं महत्ता को स्वीकार करते हैं। इसी भाँति काव्य भाषा की इस प्रगति को कवि पंत ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया—'वह अज्ञात-यौवन कलिका अब विकसित हो गई है, प्रभात के सूर्य ने उसका उज्ज्वल मुख चूम, उसे अजस्र आशीर्वाद दे दिया, चारों ओर से भौंरे आकर उसे नव संदेश सुनाने लगे, उसके सौरभ का वायु-मण्डल इधर-उधर वहन करने लग गया.......।'[१] छायावाद के दूसरे उज्ज्वल स्तम्भ, कविवर निराला भी इस तथ्य को परिमल में स्वीकार करते हैं।[२] इस प्रकार १९२५ ई० तक आते-आते खड़ी बोली के चेहरे पर आत्मविश्वास और सफलता का तेज चमक उठा था। द्विवेदीजी की भाषा-नीति की इतनी महती सफलता, साहित्यिक इतिहास की एक महान घटना है। पन्द्रह-बीस वर्षों के अन्तर्गत ही 'डाकिनी' और 'बाजारू' कहलाने वाली भाषा, भारतीय जनमानस की प्रिय एवं संसार की समृद्ध भाषाओं की पंक्ति में जाकर खड़ी हो गई। यह अपने-आप में एक आश्चर्यजनक घटना है। द्विवेदी युग की कृतसंकलपता और कर्मठता की यह उदात्त एवं उज्ज्वल परिणति है।

• • •

१. पल्लव, सु० न० पंत, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३५ ई० (प्रवेश), पृ० २।
२. परिमल सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', 'गंगा पुस्तक माला' कार्यालय, लखनऊ, १९८६ वि०, पृ० ३।

गांधीवादी हिन्दी लेखन

डा० विमलाकुमारी मुंशी
रिसर्च एसोसियेट, हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

*

हिन्दी में गांधीवादी लेखन का आरम्भ, बापू के दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद होता है। यह स्वाभाविक है कि किसी भी वाद या सिद्धान्त के स्वरूप के निश्चय और प्रचलन के बाद ही उससे प्रभावित लेखन साहित्य में आरम्भ होता है। गांधीजी के व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व का प्रभाव तथा उनके विचारों से प्रेरित लेखन का आरम्भ उनके दक्षिण अफ्रीका के कार्य कलापों के चमत्कारी रूप से ही आरम्भ होता है। इसमें उनके अपने लेखों एवं भाषणों का भी महत्त्वपूर्ण योग था।

द्विवेदी युग के अन्त के कुछ कवियों से गांधीवादी लेखन अपना स्वरूप ग्रहण करता है और प्रसाद-पन्त-निराला युग में वह उभर कर सामने आता है। वास्तव में गांधीवादी हिन्दी लेखन को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम है, सृजनात्मक लेखन, जिनमें कविता कहानी उपन्यास नाटक आदि आते हैं, दूसरा है सिद्धान्तवादी लेखन जिसमें गांधीवादी विचारधारा के प्रचार, प्रसार, मन्थन सम्बन्धी गद्य लेखन आता है।

कविता के क्षेत्र में सर्वप्रथम मैथिलीशरण गुप्त, वियोगी हरि, सोहनलाल द्विवेदी, बाल कृष्ण शर्मा नवीन, पं० हरिशंकर शर्मा, अनूप शर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, रामइक़वाल सिंह राकेश, सुभद्राकुमारी चौहान, रामगोपाल शर्मा दिनेश, पद्म सिंह शर्मा कमलेश आदि का नाम आता है। कविता के क्षेत्र में गांधीवादी रचनाएँ सन् १९५० के आसपास कम होने लगती हैं। उपर्युक्त कवियों में से दिनेश एवं कमलेश को छोड़कर सारे कवि गांधीजी के अनुयायी थे, काँग्रेस के कार्य कर्त्ता थे, स्वतंत्रता के आन्दोलनों में जेल गए थे। इन सभी कवियों के विरुद्ध मार्क्सवादियों ने प्रचार भी किया था। सोहनलाल द्विवेदी तथा उनके कविता संग्रह 'भैरवी' और उसमें संग्रहीत बापू विषयक कविताओं पर कटाक्ष भी किए गए थे। इन कवियों के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त तथा निराला ने भी कुछ कविताएँ गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित होकर लिखी थीं, परन्तु निराला तथा पन्त आगे चलकर मार्क्सवाद से अधिक प्रभावित हो

गए और पन्तजी ने मोहनदास गांधी के व्यक्तित्त्व की तो प्रशंसा की परन्तु गांधीवाद को नकार दिया। महादेवी वर्मा की संवेदना शुद्ध गांधीवादी है, परन्तु उन्होंने अपने गद्य-लेखन में ही उसे पल्लवित किया है, उनकी कविताओं में गांधीवाद की झलक देखने के लिए दूरारूढ़ कल्पना करनी पड़ती है।

उपन्यास तथा कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द का नाम सर्वोपरि है, यद्यपि आज भी यह झगड़ा चल रहा है कि अपने अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में प्रेमचन्द मार्क्सवाद की ओर झुक रहे हैं या गांधीवाद की ओर। प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य आदि से अन्त तक गांधीवादी मान्यताओं से अनुप्राणित है। प्रेमचन्द के अतिरिक्त, सुदर्शन, कौशिक, किसी सीमा तक जैनेन्द्र, श्रीराम शर्मा तथा राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह आदि कहानीकार पूर्णरूपेण गांधीवादी लेखक हैं। निरालाजी के उपन्यास 'अनुपमा' में भी गांधीवाद के दर्शन होते हैं। रेखाचित्र संस्मरणों के क्षेत्र में, श्रीराम शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, झावरमल्ल शर्मा, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, महादेवी वर्मा आदि लेखक पूर्णरूपेण गांधीवादी हैं। यही नहीं ये सारे लेखक जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी गांधीजी के अनुयायी थे।

हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में विभिन्न पत्रकारों ने जो सम्पादकीय तथा अन्य लेख लिखे उनका गांधीवादी लेखन में अपना विशिष्टि महत्त्व है। इस क्षेत्र में 'विशाल भारत' के सम्पादक पं० श्रीराम शर्मा तथा बनारसीदास चतुर्वेदी, 'सैनिक' तथा 'केहरी' के सम्पादक पं० श्रीकृष्ण दत्त पालीवाल, 'आज' के सम्पादक कमलापति त्रिपाठी, अम्बिकाचरण वाजपेई, 'योगी' के सम्पादक व्रजशंकर वर्मा, 'वालक' आदि पत्रों के सम्पादक रामलोचन शरण सिंह जी, 'आर्य मित्र' के सम्पादक पं० हरिशंकर शर्मा तथा कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर एवं झाबर मल्ल शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वयं महात्मा गांधी ने 'हरिजन सेवक' के सम्पादक के रूप में सम्पादकीय लेखों का विस्तृत भण्डार सृजित किया था। 'कर्मयोगी' के सम्पादक के रूप में श्री वियोगी हरि का भी इस क्षेत्र में अपना विलग स्थान है।

नाटक के क्षेत्र में दो नाम विशेष रूप से उभर कर आते हैं। वे हैं श्रीहरिकृष्ण प्रेमी तथा श्री विष्णु प्रभाकर। वैसे रामगोपाल शर्मा दिनेश, सुधेश आदि नाटककारों ने भी इस दिशा में योगदान दिया है। प्रेमीजी के लगभग पचास नाटकों तथा पन्द्रह गीति नाटिकाओं में गांधीवादी प्रभाव पूर्ण रूपेण लक्षित होता है। गांधीवादी सर्वधर्म समभाव, अहिंसा, सत्य, स्वदेशी एवं प्रेम की भावनाओं का पूर्णरूपेण प्रभाव एवं प्रयोग प्रेमीजी की रचनाओं में पाया जाता है। कुछ लोग जयशंकर प्रसाद तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में भी गांधीवादी विचारधारा खोज लेते हैं। परन्तु मेरे विचार में बौद्धधर्म के कुछ तत्वों के निरूपण के अतिरिक्त स्पष्ट रूप से गांधीवादी प्रभाव इन दोनों नाटककारों पर नहीं मिलता।

गांधीवादी विचारधारा के प्रचार एवं प्रसार के क्षेत्र में, भाषणों, रेडियो-वार्त्ताओं, लेखों आदि का एक विस्तृत भण्डार हिन्दी साहित्य में पाया जाता है। रचनात्मक कार्यक्रम, खादी आन्दोलन, स्वदेशी आन्दोलन, सत्याग्रह, अहिंसा तथा गांधीजी के व्यक्तित्व के विषय में जिन लेखकों ने हिन्दी में लिखा है उनमें विनोवाभावे, आचार्य कृपलानी, वियोगी हरि, जे० सी० कुमारप्पा, महादेव भाई देसाई, काका कालेलकर, दादा धर्म्माधिकारी, श्रीराम शर्मा, श्रीकृष्ण दत्त पालीवाल, हरिशंकर शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त साहित्य के अतिरिक्त एक अपरिमित सागर लोक-साहित्य का भी पाया जाता

है। देश के सम्पूर्ण हिन्दी भाषी क्षेत्र में गांधी बाबा का सन्देश, लोक नाटकों, लोक गीतों, होलियों, कजरियों, खयालों के माध्यम से ही फैला था। आजादी से पूर्व देश में साक्षरता बहुत कम थी दूर-दूर के ग्रामों में गांधीजी का सन्देश लोक-साहित्य के माध्यम से, मौखिक रूप से ही फैला था। यही कारण है कि गांधीजी का प्रभाव नगर एवं अभिजात्य वर्ग पर ही नहीं अपितु दूर-दराज़ गाँवों और खेतों में भी फैल गया था।

गांधीवादी हिन्दी लेखन का विवेचन करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं बापू का रचा हुआ अपरिमित साहित्य, लेखन एवं भाषणों के रूप में पाया जाता है।

° • •

कश्मीर शैवदर्शन में सृष्टि क्रम एवं तत्त्वों का निरूपण

१००८ आ० स्वा० पूर्णानन्द सरस्वती

अनुसंधित्सु, मध्य एशियाई अध्ययन केन्द्र, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

*

शिवो गुरुः शिवो देवः, शिवो बन्धुः शरीरिणाम् ।
शिव आत्मा शिवो जीवः, शिवादन्यन्न किञ्चन ॥

भगवान् शिव ही शरीरधारियों का गुरु है, शिव ही देव है, शिव ही बन्धु है, शिव ही आत्मा है, शिव ही जीव है, शिव से भिन्न कुछ भी नहीं है ।

भगवान् शिव प्रकाशरूप है और विमर्श उसका स्वभाव है ।[1] विमर्श अपने इस स्वातन्त्र्य-स्वभाव से वह अपनी पूर्ण अहन्ता के आनन्द में सदैव स्पन्दमान रहता है ।[2] वह पूर्ण अहन्ता की अपनी इस स्थिति से च्युत न होते हुए ही अपने परमानन्द स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिए अपने स्वरूप को ही प्रमातृ प्रमेय के अनेक रूपों में अवभासित करता है ।[3] उसके परमानन्द स्वभाव की यह अभिव्यक्ति ही उसकी शक्ति का स्फार है ।[4] इस अभिव्यक्ति की लीला में वह "अहम्" रूप में अनन्त प्रकार से अवस्थित रहता है ।[5] भगवान् शिव के स्वभाव के उक्त अवभासन में प्रमातृ रूपों की तरह प्रमेय रूप भी अनन्त प्रकारों से अवस्थित रहते हैं । प्रमेय वस्तु के उन अनन्त प्रकारों को आग शास्त्रों ने छत्तीस तत्त्वों में विभाजन किया है ।

प्रमेय वस्तुओं को छत्तीस तत्त्व कहते हैं ।[6] आचार्य अभिनव गुप्त पाद ने तत्त्व की व्याख्या करते हुए कहा है कि अपने कार्य में या सदृश वस्तु में सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को ही तत्त्व कहते हैं ।[7] जिस प्रकार पृथ्वी तत्त्व, पर्वत, वृक्ष, ग्राम, पुर (नगर) आदि में सर्वत्र पृथ्वीरूपता से स्थित है और नदी, सरोवर, सागर आदि पदार्थों में जो जलरूप से व्याप्त

१. परमेश्वर : प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः पराप्रवेशिका, पृ० १ ।
२. परमेश्वर : पूर्णत्वात् स्वत······क्रीडति, शिवदृष्टि, पृ० २९ ।
३. तस्मात्प्रकाश एवासौ गीतोयः परमः शिवः । स एव······घूर्णितः मालिनीविजयवार्तिकम्, पृ० ८ ।
४. सर्व एवायं विश्वप्रपश्च आनन्दशक्तिस्फारः । तन्त्रालोक द्वितीय भाग, पृ० २०१ ।
५. स्वातन्त्र्येण चैतन्यरूपोऽपि स्वं··· नाना प्रमातृतया स्थितः परमार्थसारः, पृ० ३ ।
६. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा द्वितीय भाग, पृ० १९२ ।
७. स्वस्मिन्कार्येऽथधसौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे । श्री तन्त्रालोकः भाग ६, पृ० ४ ।

है, वही जल तत्त्व है।[१] इस प्रकार परमशिव अपनी इच्छा से अपने अन्तर्गत जगत् के जिन छत्तीस तत्त्वों का आभासन करता है वे तत्त्व ये हैं। (१) शिव, (२) शक्ति, (३) सदाशिव, (४) ईश्वर, (५) शुद्ध विद्या, (६) माया, (७) कला, (८) विद्या, (९) राग, (१०) काल, (११) नियति, (१२) पुरुष, (१३) प्रकृति, (१४) बुद्धि, (१५) अहंकार, (१६) मन, (१७) श्रोत्र, (१८) त्वक्, (१९) चक्षु, (२०) जिह्वा, (२१) घ्राण, (२२) वाक्, (२३) पाणि, (२४) पाद, (२५) पायु, (२६) उपस्थ, (२७) शब्द, (२८) स्पर्श, (२९) रूप, (३०) रस, (३१) गन्ध, (३२) आकाश, (३३) वायु, (३४) वह्नि, (३५) सलिल, (३६) पृथ्वी।

जगत् के आभास का उपर्युक्त तत्त्व विभाजन माया-प्रमाता के अनुमान पर आधारित न होकर आगम-शास्त्र प्रसिद्ध है।[२]

शिव तत्त्व से लेकर शुद्ध विद्या तत्त्व तक की सृष्टि शुद्ध अध्वा या शुद्ध सृष्टि कही जाती है। सृष्टि क्रम के ये पाँच तत्त्व भगवान् शिव द्वारा स्वयं बिना किसी सहायक के अथवा अन्य वस्तुओं के माध्यम से सीधे अभिव्यक्त होते हैं।[३] आचार्य अभिनव गुप्त पाद ने कहा है— कि साक्षात् भगवान् शिव इनका कर्ता है।[४] शुद्ध अध्वा की स्थिति में चेतना को अपने स्वरूप का अन्यथा ज्ञान नहीं रहता। वहाँ शुद्ध संवित्स्वरूप अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान रहता है। भगवान शिव अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य की लीला विलास से अपनी इच्छा के द्वारा इस शुद्ध अध्वा की सृष्टि एवं संहार को स्वयमेव करते रहते हैं। इन पाँच तत्त्वों तक भगवान सृष्टि संहार आदि के ऐश्वर्य को किसी को भी नहीं देते हैं। शुद्ध सृष्टि तक भगवान् शिव से अभेद भाव की अनुभूति बनी रहती है। इन पाँच तत्त्वों तक की इस शुद्ध सृष्टि में माया का कोई प्रभाव नहीं रहता है।

(१) **शिव तत्त्व**—भगवान् शिव की दो अवस्थितियाँ हैं—विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय। परम शिव का सर्जनात्मक विश्वमय रूप शिव तत्त्व कहा जाता है।

सर्व तन्त्र स्वतन्त्र चिद्घन संवित्-स्वभाव भगवान् अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से जब अक्रम में ही कारण-कार्य भाव से अपने स्वरूप को ही अपने अन्तर्गत समस्त विश्व के रूप में अवभासित करने की इच्छा करता है, तब उसकी विश्वोन्मीलन की उस प्रथम इच्छा अवस्था को ही शिव तत्त्व कहते हैं। शिव तत्त्व भगवान शिव का प्रथम स्पंद है।[५] यह सत्य की प्रथम अभिव्यक्ति है। इसमें चित् शक्ति का प्राधान्य रहता है। आचार्य अभिनव गुप्त पाद के अनुसार पंचशक्ति स्वभाव भगवान् शिव में चित् शक्ति का प्राधान्य होने पर वह शिव तत्त्व कहलाता है।[६] यह शुद्ध "अहम" के साक्षात् अनुभव की अवस्था है। इस अवस्था में सब कुछ शिव में है, भगवान् शिव से पृथक् कोई अस्तित्त्व नहीं है। प्रत्येक जीव (या प्राणि) में रहने वाला शिव तत्त्व ही आत्म तत्त्व है। शिव तत्त्व चैतन्य स्वरूप है।[७] यही तत्त्व परा

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी भाग २, पृ० १९२।
२. अनुमानमप्येवम्······ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग २, पृ० १८६।
३. तदेवं पञ्चकमिदं शुद्धोऽध्वा परिभाष्यते। तत्र साक्षाच्छिवेच्छैव, कार्याभिभासितभेदिका। तन्त्रालोक भाग ६, पृ० ५५।
४. इयति साक्षात् शिवः कर्ता। तन्त्रसारः, पृ० ७५।
५. यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम्। पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथम शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः॥ षट्त्रिंशतत्त्वसंदोहः, पृ० १।
६. चित्प्राधान्ये शिवतत्त्वम् तन्त्रसार, आह्निक ८, पृ० ७४।
७. चैतन्यमात्मा शिवसूत्रवार्तिकम् पृ० ५।

संवित् भगवान् शिव से अभिहित होता है। समस्त संसार व्यष्टि रूप से एवं समष्टि रूप से इस शिव तत्त्व में स्थित है। यह देश और काल से परे है, और सभी देशों तथा कालों में एक रूप में वर्तमान है। यह विश्वमय और विश्वातीत दोनों है। सम्पूर्ण विश्व इस शिव तत्त्व का अभिन्न स्वरूप है। इस शिव तत्त्व का ही अपने से लेकर पृथ्वी पर्यन्त प्रत्येक तत्त्व अभिन्न स्वरूप में स्फुरण है। इस शिव तत्त्व से बढ़कर वस्तुतः ग्राह्य और ग्राहक कुछ भी नहीं है।

(२) **शक्ति**—शक्ति तत्त्व भगवान् शिव की शक्ति है। यह शिव की आभासरूपता में दूसरा तत्त्व है जो शिव का अभिन्न स्वरूप है। प्रकाश स्वरूप शिव का विमर्श रूप ही शक्ति तत्त्व है। किन्तु शिव में विमर्श शक्ति न हो तो वह जड़ हो जायगा। शक्ति तत्त्व भगवान् शिव साथ सदैव अभिव्यक्त होता है। दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है।[1] भगवान् शिव के हृदय में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होती है, तब शिव और शक्ति तत्त्व अभिव्यक्त होता है। जिस प्रकार चेतना सत्ता की पूर्व कल्पना करती है उसी प्रकार शक्ति तत्त्व की पूर्व कल्पना शिव तत्त्व से होती हैं। आचार्य अभिनव गुप्त पाद के अनुसार बाह्योन्मुख भगवान् शिव की उन्मुखता रूप क्रिया ही शक्ति तत्त्व है।[2] क्योंकि चिद्रूपता का उन्मेष अन्तर्मुख होना है और उसका निमेष ही बहिर्मुख होता है।[3] किन्तु भगवान् शिव सभी में है और सब कुछ उसी में है। क्योंकि परम शिव सभी में है और सब उसी में है। शिव और शक्ति दोनों एक हैं, उन दोनों का भेद व्यावहारिक मात्र है। कश्मीरी शैव दर्शन में शिव तत्त्व को परम शिव का प्रथम स्पन्द कहा है तो कहीं शक्ति तत्त्व को परम शिव का प्रथम स्पन्द कहा है। आचार्य अभिनव गुप्त पाद ने शिव तत्त्व को परम शिव की "प्रथम तुटि" और शक्ति तत्त्व को परम शिव की "द्वितीय तुटि" कहा है।[4] शिव तत्त्व को परम शिव का प्रथम स्पन्द कहना और शक्ति तत्त्व को द्वितीय स्पन्द कहना तो केवल व्यावहारिक सुविधा के लिए किया जाता है। शिव और शक्ति में किसी भी प्रकार से कोई भी भेद नहीं किया जा सकता। शिव तत्त्व की अवस्था में "अहम्" का अनुभव होता है और शक्ति तत्त्व की अवस्था में "अहमस्मि" का अनुभव होता है। किन्तु शक्ति के कारण ही शिव को अपना बोध होता है। इस स्थिति में आनन्द शक्ति का प्राधान्य रहता है।[5]

(३) **सदाशिव**—यह क्रम से तीसरा तत्त्व है। इसकी अभिव्यक्ति भगवान् शिव की इच्छा शक्ति से होती है। जब शक्ति में उन्मेष होता है, तब सृष्टि होती है और जब निमेष होता है तो जगत् का लय होता है। यह उन्मेष और निमेष अनादि और अनन्त हैं। इस उन्मेष के कारण "सदाशिव" तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। यह शक्ति तत्त्व का स्थूलरूप उन्मेष है। इस अवस्था में अनुभव का प्रत्यय "अहमिदम्" होता है। "अहम्" भगवान् शिव परिचायक है और "इदम्" विश्व का परिचायक है। इस अवस्था में "इदम्" अंश अप्रधान्य

१. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिव्यतिरेकिणी। शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते। शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैव जातु न वण्यते॥ शिवदृष्टिः, पृ० ९६।

२. तस्य यथा बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शिवतत्त्वम् तन्त्रालोक भाग ६, पृ० ५०।

३. तन्त्रालोकः, भाग ७, पृ० २१९।

४. अत एव शिवावेशे द्वितुटिः परिगीयते। एकत सा तुटिस्तत्र पूर्णा शुद्धैव केवलम्॥ द्वितीया शक्तिरूपैव सर्वज्ञानक्रियात्मिका। तन्त्रालोक भाग ७, पृ० २०६।

५. आनन्दशक्ति प्राधान्ये शक्तितत्त्वम् तन्त्रसारः, पृ० ७४।

रहता है और अहं अंश का प्राधान्य होने से वह "इदम्" अंश को आच्छादित करता है। इस कारण यहाँ जगत् का अव्यक्तरूप में भान होता है। सदाशिव अवस्था में अनुभव का "इदम्" अंश के रूप में रहता है, जिस प्रकार कलाकार के मन में चित्र बनाने के पूर्व चित्र की कल्पना रहती है।[१] सदाशिव तत्त्व सृष्टि के विकास में प्रथम तत्त्व है।[२] इस अवस्था के अनुभव करने वाला "मन्त्र महेश्वर" कहते हैं। अभिव्यक्ति के लिए विषयी विषय की आवश्यकता होती है। सदाशिव तत्त्व में दोनों हैं।

(४) **ईश्वर**—भगवान् शिव की इच्छा का बहिर्मुख स्पन्द ईश्वर तत्त्व कहलाता है। इस तत्त्व की अभिव्यक्ति शिव की क्रिया शक्ति के उद्रेक से होती है।[३] जगत् की क्रमरूप अभिव्यक्ति यहाँ स्पष्ट होती है। यहाँ अनुभव का विषय "अहमिदम्" होता है। यहाँ "अहम्" अंश गौण रहता है और "इदम्" अंश का प्रधानता रहता है। इस अवस्था में क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति दोनों को स्वीकार किया गया है। यहाँ ज्ञान शक्ति की प्रधानता रहती है।[४] यहाँ सृष्टि रचना का विचार स्पष्ट हो जाता है। इस स्थिति में अनुभव का "इदम्" पक्ष स्पष्टरूप से भाषित हो जाता है। जिस प्रकार कलाकार के मन में जो चित्र बनाने का विचार उपस्थित रहता है और बाद में चित्र बनाते समय यह स्पष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सदाशिव स्थिति में एक धुँधुला विचार होता, किन्तु ईश्वर की स्थिति में यह सुस्पष्ट हो जाता है। यहाँ स्वामित्व आत्मचेतना से बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। जहाँ शिव और शक्ति के आन्तरिक सम्बन्ध की अवस्था है, ईश्वर उनके बाह्यकरण की अवस्था है।[५] सदाशिव तत्त्व जगत् के उन्मेष का परिचायक। ईश्वर तत्त्व के उन्मेष से ही जगत् का उदय होता है।[६]

(५) **शुद्ध विद्या**—पाँचवाँ तत्त्व शुद्ध विद्या कहलाता है। शुद्ध विद्या तत्त्व सदाशिव और ईश्वर के अधिष्ठातृ-देवताओं का करणस्थानीय तत्त्व है।[७] जिस प्रकार परमशिव का बहिः औन्मुख्य शक्ति तत्त्व कहलाता है उसी प्रकार सदाशिव और ईश्वर का बाह्य औन्मुख्य शुद्ध विद्या तत्त्व कहलाता है।[८] इस अवस्था में आत्मा अपने आप को शुद्ध संवित्स्वरूप समझता है। अपने स्वरूप के विषय में अज्ञान नहीं रहता किन्तु अपनी अभेद भावना को भूल कर अपने को परमेश्वर से अन्य पृथक् समझता है। इस प्रकार शुद्ध विद्या के भीतर माया का अंश रहता है किन्तु माया का प्रभाव इस अवस्था में स्थित आत्मा पर नहीं होता।

(६) **माया**—परमेश्वर अपने प्रकाश स्वरूप के प्रच्छादन की क्रीड़ा से भेद दशा पर उतर कर सर्वप्रथम माया का अवभासन करता है।[९] यह माया परमेश्वर की शक्ति है, जो भेद दशा का अवभासन करने के कारण माया शक्ति कहलाती है।[१०] आचार्य अभिनव गुप्त

१. तत्र प्रोन्मीलितमात्रचित्रकल्पतया इदमंशस्य अस्फुटत्वात् इच्छाप्राधान्यम्। षट्त्रिंशतत्त्वसंदोह, पृ० ३।
२. सृष्टिक्रमोपदेशादौ प्रथममुचित तत्सदाख्यं तत्त्वम्। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग २, पृ० १९१।
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, विमर्शिनी भाग २, पृ० १९२।
४. ज्ञानशक्तिप्राधान्ये ईश्वर तत्त्वम्। तन्त्रसारः, अष्टममाह्निकम।
५. ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी। भाग ३, पृ० २६५।
६. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग २, पृ० १९४।
७ तदधिष्ठातृ देवताद्वयगतं करणं विद्यातत्त्वम्। ई० प्र० वि० २/३/१/५।
८. यद्यपि परमशिवस्यैवेदमेकघनमैश्वर्यं तथापि तस्य यथा बाहिरौन्मुख्येन व्यापारः, शक्तितत्त्वं, तथा सदाशिवेश्वरयोरपि विद्यातत्त्वमिति तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० ५१।
९. देवः स्वतन्त्राचिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः। रूपप्रच्छादनक्रीडा योगादणुरेककः। तन्त्रालोकः भाग ८, पृ० ६९।
१०. परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णता-प्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति माया शक्तिरुच्यते॥ तन्त्रालोकः, भाग ६, पृ० ११६।

पाद के अनुसार इसे परमेश्वर की स्वरूपगोपनात्मिका इच्छाशक्ति भी कहा गया है।[1] माया ईश्वर की दैवी शक्ति है, क्योंकि परमेश्वर जो जगत् निर्मातृत्व-स्वरूप परम स्वातन्त्र्य है उसका सम्पादन करने वाली है। वास्तव में वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि निर्माण करना अत्यन्त दुरूह कार्य है, उसका ईश्वर से अन्य किसी के द्वारा होना सम्भव नहीं है। अतएव माया शक्ति ईश्वर की शक्ति है और ईश्वर से अभिन्न है। इस प्रकार परम आत्म को जो अपूर्णता स्वरूप पशुत्व में सीमित कर दे वही उसकी अभिन्न माया शक्ति है। विस्तार मयात्॥

(७) **कला**—कश्मीरी शैव दर्शन में कला को तत्त्व रूप में मान्यता प्राप्त है, क्योंकि इसके द्वारा ही मानव की परिमित शक्ति की व्याख्या होती है। कला से ही प्रधान प्रकृति की उत्पत्ति होती है।[2] कला माया का कार्य और विद्यादि का कारण भी है अर्थात् विद्या, राग, काल आदि तत्त्वों की उत्पत्ति कला तत्त्व से होती है। कला तत्त्व प्रथम उत्पादन है। किन्तु सामान्य रूप से कला को प्रथम माना जाता है। माया प्रमाता की चेतना का अपहरण कर उसे जड़ बना देती है। परन्तु पूर्ण जड़त्व से कोई काम नहीं चल सकता, किन्तु काम चलाने के लिये यत्किञ्चित् चेतना का अंश भी दे देती है। वह चेतना अंश उसे कुछ करने की शक्ति प्रदान करता है। यह कला तत्त्व आत्मा के लिए क्रियाशक्ति एकत्रित करता है।

(८) **विद्या**—इसके संसर्ग से प्रकाश स्वरूप परमेश्वर की ज्ञान शक्ति संकुचित हो जाती है, बाद में चेतन और अचेतन इन्द्रियादि में सीमित ज्ञान का उदय होता है। सीमित ज्ञान का मुख्य कारण होने से उसे विद्या कहा जाता है[3] जीव कुछ जान सकता है क्योंकि प्रमेयों को अपने से भिन्न समझता है। उसकी इस संकुचित ज्ञान रूपा विद्या को अशुद्ध विद्या कहा जाता है। यह पुरुषों में विवेक शक्ति के रूप में स्थित है। इन्द्रिय प्रणालिकाओं से बुद्धि में सुख दुःख आदि संक्रान्त होते हैं और उसका विवेचन विद्या करती है। यह बुद्धिरूप दर्पण में प्रतिबिंबित नील-पीत आदि बाह्य और सुख-दुःख आदि आभ्यन्तर वेद्यभावनाओं का विवेचन करके जीवात्मा को उनसे होने वाले सुख दुःखादि प्रयत्नों से अवगत कराती है।[4]

विद्या ज्ञान की सीमित शक्ति है, जो सर्वज्ञता के स्थान पर सीमित ज्ञातृता को उत्पन्न करता है। यह बुद्धि से भिन्न है जो अचेतन है। बुद्धि सत्वरूप होते हुए भी गुणों का कार्य होने के कारण जड़ है। इसलिये जड़रूप बुद्धि अपने में प्रतिबिम्बित भावनाओं को पृथक्-पृथक् कर उनसे उत्पन्न सुख दुःखादि प्रत्ययों का मितरूप ज्ञान को नहीं करा सकती।[5]

(९) **राग**—राग तत्त्व पूर्णत्व को परिमित करके पुरुष में कामना का उदय कराता है। जिस पर किसी वस्तु का वरण करना या निषेध करना निर्भर है। सुन्दरता आदि गुणों का शरीर के ऊपर अध्यारोप राग तत्त्व के कारण होता है। यह राग तत्त्व बुद्धि की भूमिका से ऊपर का तत्त्व है और बुद्धि के धर्म स्थूल राग से सूक्ष्मतर है।[6] माया से स्वरूप संकोच हो जाने के कारण मितात्मा समस्त जगत् को आत्म-भाव से न देख कर शरीर आदि की "अहम्", "मम" समझता है और उसे अत्यन्त गुणशालिनी स्वीकार करने लगता है। राग

१. 'माया' स्वरूप-गोपनात्मिक पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः। तन्त्रालोकः, भाग ३, श्लोक टीका, २५४।
२. वेद्यमात्रं यत् तन्त्रालोकः, भाग ६, पृ० १७६।
३. सर्वज्ञातस्य शक्तिः परिमिततनुरल्प वेद्यमात्रपरा। ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येते निगद्यते बुधैराद्यैः। षट्त्रिंश-तत्त्वसंदोहः, पृ० ७।
४. ई० प्र० वि० भाग २, पृ० २०८।
५. सर्वज्ञतास्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा। ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति। षट्त्रिंशतत्त्वसंदोहः, पृ० ७।
६. ई० प्र० वि० भाग २, पृ० २०९।

व्यक्तियों में विषय के लिए लालसा उत्पन्न करता है। और यह राग तत्त्व मितात्मा को भेद रूप भोगों में अनुरंजित करता है।[१] यह मायीय प्रमाता को पुरुष तत्त्व के रूप में प्रकट करने वाला एक संकोचन तत्त्व है।

(१०) **काल**—काल तत्त्व चिदात्मा के नित्य स्वरूप को संकुचित कर उसको काल क्रम में ग्रन्थित कर परिमित कर देता है। वह भूत, भविष्यत् और वर्तमान क्रम में आबद्ध हो जाता है। इस प्रकार कोई वस्तु पहले और पीछे तथा कोई अनन्तर भासित होने लगता है। इस प्रकार पौर्वापर्य का क्रम काल कहलाता है। इस क्रम रूप का अवभासन करने वाली पारमेश्वरी शक्ति को काल शक्ति कहा जाता है।[२] मैं जानता हूँ और जानूंगा आदि नाना प्रकार की कल्पनाएँ काल तत्त्व के द्वारा ही हुआ करती हैं।

(११) **नियति**—नियति तत्त्व स्वातन्त्र्य एवं व्यापकत्व को सीमित कर एक निश्चित रूप का प्रसार करता है। इसके अनुसार कारण से ही कार्य की प्राप्ति होती है, जैसे अग्नि से धूम रूप कार्य निकलतां है। इस प्रकार जिस पुण्य-पाप से आत्मा का नियमन होता है वही इसका नियति तत्त्व है। नियति के नियमों के अनुसार ही जीव में वस्तु के प्रति राग उदय होता है।[३] यह सब की नियामिका है, इसके नियम के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपने कर्मों के फल को भोगने के लिये बाध्य होता है।

(१२) **पुरुष**—माया तत्त्व से लेकर नियति-पर्यन्त इन छः कंचुकों से स्वरूप संकोच हो जाने पर चिदात्मा परिमित हो जाता है। इस परिमित आत्मा को ही अणु, जीव, पुमानिति, पुद्गल आदि नामों से कहा जाता है।[४] इस सिद्धान्त के अनुसार—भगवान् शिव अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव को छिपाकर सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता को भूल जाने की कल्पना करता है और अपने आप को अल्पज्ञ और अकर्ता जीव रूप में प्रकट होता है।[५] भगवान् शिव का अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव से यह परिगृहीत अणुभाव ही पुरुष तत्त्व कहलाता है।

कचकरूपी पाशों से आबद्ध होने के कारण जीव को पशु भी कहा जाता है।[६] पुरुष वास्तव में शिव ही किन्तु माया के प्रभाव से विपरीत स्वरूप होकर वह जीव बन जाता है। इस प्रकार अज्ञानवश शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने पर इस पुरुष की संज्ञा देह-प्रमाता हो जाती है। जब तक इस जीवात्मा को अपने स्वातन्त्र्य शिवस्वरूप का बोध नहीं होता तब अनेक जीवयोनियों में घूमता हुआ अपने कर्मों के अनुसार सुख दुःख आदि को अनुभव करता रहता है।[७] किन्तु शास्त्रों के अभ्यास के साथ रहस्यरूप साधनों से या गुरू के अनुग्रह से उसे अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है तब वह सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर अपने शिवस्वरूप में विश्रान्त हो जाता है। शिवस्वरूप की पूर्णता ही

१. रागोऽपि रञ्जयत्येनं, स्वभोगेष्वशुचिष्वपि मालिनीविजयोतरे तन्त्रे, पृ० ५।
२. क्रम एव च कालो। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी भाग २, पृ० २।
३. सेयम् इत्थं भूताभासवैचित्र्यप्रथनशक्तिः भगवत् काल शक्ति इत्युच्यते। ई० प्र० वि० भाग २, पृ० १३।
४. नियतिः ममेदं कर्तव्यं भेदं कर्तव्यम् इति नियमन हेतुः। पराप्रवेशिका, पृ० १०।
५. इदमेव च पञ्चविंशं पुंस्तत्त्वमित्युच्यते, यत् श्रीपूर्वशास्त्रेषु पुमानिति, अणुरिति, पुद्गलमिति चोक्तम्। श्रीतन्त्रालोकः भाग ६, पृ० १६५।
६. ई० प्र० वि० भाग २, पृ० २२०।
७. परिमितात्मा स स्वात्मैश्वर्यमपि प्रत्यभिज्ञातुमपटुः संचरति विचित्रयोनिषु। षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहः, पृ० ५।

उसकी मोक्ष है।[1] जीव इस स्वातन्त्र्य शिवस्वरूप की अभिव्यक्ति में परमेश्वर का अनुग्रह ही मुख्य कारण है।

(१३) प्रकृति—भगवान् शिव के भेदमय दृष्टिकोण से अवभासित होता हुआ जो वेद्यरूप जगत् का अविभक्त सामान्यरूप है उसे प्रकृति-तत्त्व कहा जाता है। यह सत्व, रज और तम की साम्यावस्था है। महत् तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्वों का मूल कारण प्रकृति तत्त्व है। शून्य आदि प्रमाता के अपने से व्यतिरिक्त वेद्यरूप प्रकृति तत्त्व से कार्य-कारण भाव से २३ प्रमेयों का विकास होता है।[2] पुरुष भोक्ता है और प्रकृति उसका भोग्या है। किन्तु दोनों एक ही हैं। दोनों की अभिव्यक्ति एक साथ होती है। जिस प्रकार पुरुष जगद्रूपी क्रीड़ा करने वाले भगवान शिव की आत्म कल्पना है, उसी प्रकार प्रकृति उसकी वेद्यरूप कल्पना है।[3] प्रकृति को भगवान् अनन्तनाथ पुरुषों के आधार पर उन्हें सुख दुःख का अनुभव कराने के लिये क्षुब्ध करता है।[4]

(१४) बुद्धि—मूल प्रकृति में क्षोभ के कारण गुणों में विषमता आती है। अपने परिणामस्वरूप में प्रकृति अन्तकरणों के रूप में प्रकट होता है। अन्तःकरणों में सर्वप्रथम सत्व-गुण प्रधान महत्तत्व प्रकट होता है। इसी को बुद्धि तत्त्व कहा जाता है। यह एक स्वच्छ जड़रूप है, अपनी स्वच्छता के प्रभाव से यह अगली सृष्टि में सन्निहित वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को धारण करता है। प्रमाता के प्रतिविम्व को धारण करने से यह चेतन सा प्रतीत होने लगता है और चेतन जैसा काम करने लगती है। यह अपने भीतर प्रतिबिम्बित विषय को पुरुष के प्रति प्रकाशित करता है। बुद्धि प्रतिबिम्बित विष के नाम रूप की कल्पना करती है। प्रमेय को प्रकाशित और नाम रूप की कल्पना करके यह ज्ञान का साधन बन जाती है। बुद्धि पुरुष का सबसे प्रधान और समीपवर्ती तत्त्व है। बुद्धि इस स्थूलरूप सृष्टि में पुरुष के देह के भीतर रह कर ही कार्य करती है।

इसलिये इसे अन्तःकरण कहा जाता है। यह बाहर के विषयों को चक्षु आदि बाह्य करणों की सहायता के बिना प्रकट नहीं कर सकती। इसके बिना पुरुष प्रमेय के प्रति किसी भी कार्य को नहीं कर सकता।

(१५) अहंकार—"मम इदम्" (यह मेरा है), "नेदं मम" (यह मेरा नहीं है), इस प्रकार अभिमान का साधन "अहंकार" तत्व है। अहंकार बुद्धि पर आत्मा के अध्यारोपण के कारण उत्पन्न होता है। विषय के प्रतिबिम्ब के सविकल्प अथवा निर्विकल्प आभास को जीव के साथ सम्बद्ध करने वाली उसकी शक्ति अहंकार कहलाती है। किन्तु अहंकार के प्रभाव से जीव यह समझता है कि इन्हें मैं जानता हूँ। इसी प्रकार बुद्धि, शरीर और प्राण की क्रियाओं के विषय में जीव को यह अभिमान होता है कि "मैं करता हूँ।" इस प्रकार शरीर या प्राण को वह समझने लगता है कि "अहमस्मि" इति यह भी अन्तःकरण तत्त्व है।

१. मोक्षस्य नैव किंचिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र। अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्ति-अभिव्यक्तता मोक्षः। परमार्थसारः, पृ० ११५।

२. त्रयोविंशतिधा मेयं यत्कार्यकारणात्मकम्। तस्याविभागरूप्येकं प्रधानं मूलकारणम्॥ ई० प्र० भाग २, पृ० १०।

३. इदमेव हि परं स्वातन्त्र्यं यत् स्वं स्वरूपं वेदकमेवसत् वेद्यत्वेन अवभासयति। तन्त्रालोकः, टीका भाग १, पृ० २०९।

४. भोक्तृत्वाय स्वतन्त्रेशः प्रकृति क्षोभयेद् भृशम्। तन्त्रालोकः, भाग ६, पृ० १८०।

(१६) **मन**—"मैं यूनिवर्सिटी जाऊँ या न जाऊँ" इस प्रकार संकल्प और विकल्प का कारण "मन" तत्त्व है। मन अहंकार का उत्पादन है। यह जीव की "मनन" शक्ति है। विषय ज्ञान के सम्बन्ध में जब इन्द्रियों द्वारा चित्त पर विषय का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो सबसे पहले किसी वस्तु के होने का आभास होता है। इस प्रकार की स्थिति में मन वस्तु के विषय में अनेकों नाम रूपों की कल्पना करतो है। इस कल्पना की कर्त्री शक्ति को "मन" कहते हैं। यह भी एक अन्तःकरण है।[1]

(१७) **श्रोत**—श्रोत शब्द और समस्त शब्दात्मक विषय के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता हुआ उसे बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत करता है। श्रोत पुरुष के सुनने की क्षमता को कहते हैं। यह देह में कान के छिद्र स्थित रहता है।

(१८) **त्वक्**—शीत, उष्ण आदि स्पर्शों को जानने की पुरुष की क्षमता को त्वक् कहते हैं। यह त्वक् इन्द्रिय स्थूल देह के समस्त अंगों में रहती है।

(१९) **चक्षु**—रूप, वर्ण, आकार आदि जानने की पुरुष की साधन (क्षमता) को चक्षु कहते हैं। यह चक्षु इन्द्रिय स्थूल देह में आँखों के तारों में स्थित होती (रहती) है।

(२०) **जिह्वा**—मीठा, खट्टा आदि जानने का साधन बना हुआ पुरुष का करण क्षमता जिह्वा (या रसना है) यह जिह्वा स्थूल देह में इसका स्थान जीभ का अग्र भाग होता है।

(२१) **घ्राण**—गन्ध को जानने के पुरुष के ज्ञान साधन को घ्राण इन्द्रिय कहते हैं। यह घ्राणेन्द्रिय स्थूल देह में नाक के छिद्रों के मुख पर स्थित होती है। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ विषयों के प्रतिबिम्बों को लेकर बुद्धि के दर्पण में डाल देती है। बुद्धि उन प्रतिबिम्बों को विशेष आकार में प्रकट करती है और बुद्धि में प्रतिबिम्वित पुरुष अपनी चेतना के बल से उन सविकल्प और निर्विकल्प आकारों को विषय के रूप में जान लेता है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहों में रहती हैं, अतः सूक्ष्म देह में रहता हुआ भी जीव सभी विषयों को ग्रहण करता है।

(२२) **वाक्**—इन कर्मेन्द्रियों के सहारे ही पुरुष किसी कार्य में समर्थ होता है, वाक् उसके बोलने का साधन है। स्थूल देह में जीव के मुख में रहती है। इस वाक् की अभिव्यक्ति प्राण-वायु के आघात से होती है। इस वाक् को वैखरी वाणी कहते हैं।

(२३) **पाणि**—यह पाणि इन्द्रिय पुरुष के ग्रहण करने की क्रिया का साधन है। यह स्थूल देह में इसका स्थान हाथ है। यह मुख में, पैर में, अगल, बगल में आदि जिससे वह वस्तु को ग्रहण करता है।

(२४) **पाद**—यह पादेन्द्रिय, आने, जाने, चलने-फिरने की क्रियाओं का साधन कहा जाता है। यह देह में इसका स्थान पैर है।

(२५) **पायु**—यह पायु इन्द्रिय मल त्याग की क्रिया का साधन कहलाती है। यह स्थूल देह में इसका स्थान गुदा है। यह क्रिया अन्य इन्द्रियों में भी होती है। जैसे मूत्र त्याग जननेन्द्रिय से किया जाता है और नाक, आँख, मुख आदि भी मल त्याग के साधन हैं।

(२६) **उपस्थ**—यह उपस्थ इन्द्रिय विषय आनन्द को अभिव्यक्त करने की क्रिया का साधन कहलाती है। यह स्थूल देह में इसका स्थान जननेन्द्रिय है। ये कर्मेन्द्रियाँ स्थूल

१. निश्चयकारिणी विकल्पप्रतिबिंबधारिणी बुद्धिः, अहंकारो नाम-ममेदं न ममेदमित्यभिमानसाधनम, मनः संकल्पसाधनम्, एतत्श्रयमन्तःकरणम् । पराप्रवेशिका, पृ० १० ।

देह के साथ सूक्ष्म देह में भी अधिष्ठित होती है। क्योंकि सूक्ष्म देह में रहता हुआ भी जीव कला के सभी व्यापारों को करता है।

(२७–३१) **पंच तन्मात्राएँ**—तमोगुण प्रधान अहंकार के परिणामस्वरूप ज्ञानेन्द्रियों के पाँच सूक्ष्म विषयों की अभिव्यक्ति होती है। ये विषय अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्राएँ होते हैं। ये सर्वथा प्रविभाग से रहित सूक्ष्मतर विषय होते हैं। प्रत्येक में अपने को छोड़कर कुछ अवशिष्ट रहता है। इस कारण इन्हें तन्मात्राएँ कहा जाता है।

(३२–३६) **पंचमहाभूत**—ज्ञानेन्द्रियों के सूक्ष्म विषय जब परिणाम द्वारा स्थूलता को प्राप्त हो जाते हैं तो आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी नामक स्थूल पंचमहाभूतों की अभिव्यक्ति होती है। आकाश का गुण है शब्द। इसी महाभूतस्वरूप आकाश के भीतर शब्द की तरंगें निरन्तर चलती रहती हैं। वायु का गुण स्पर्श प्रधान है। अग्नि का गुण रूप प्रधान है। जल का गुण रस प्रधान है। और पृथ्वी का गुण गन्ध प्रधान है। आकाश से लेकर पृथ्वी पर्यन्त क्रम से स्थूलता अधिक होती है। ये महाभूत जितना अधिक स्थूलरूप होता है, वह परिणाम में उतना ही अधिक विशाल होता है। सबसे कम परिणाम पृथ्वी का होता है और सबसे अधिक स्थलता भी उसी में होती है। **इति**॥

"सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान शिव को नमस्कार है। अनन्त शक्ति को धारणा करने वाले प्रभु को नमस्कार। समस्त विधाओं के अधिपति एवं समस्त पृथिव्यादि तत्त्वों के अधीश्वर भगवान् शिव को मेरा नमस्कार है।"

सूची ग्रन्थ

१. पराप्रवेशिका, भाषानुवाद श्री प्रभादेवी।

२. तन्त्रालोकः, प्रथमो भाग, कश्मीर ग्रन्थावलीः ग्रन्थांकः २३। सम्पादक म० म० मुकुन्दराम शास्त्री, सन् १९१८।

३. तन्त्रालोकः, भाग ६, ग्रन्थांकः २९। संपादक मधुसून शास्त्री, सन् १९२१।

४. ई० प्र० वि० भाग २।

५. षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, ग्रन्थांकः १३, सम्पादक म० म० मुकुन्दराम शास्त्री, सन् १९१८।

६. परमार्थसारः, कश्मीर ग्रन्थावली खण्ड ७, सन् १९१६।

७. श्री मालिनी विजयोत्तरतन्त्रम्, ग्रन्थांकः ३७, सम्पादक श्री मधुसून कौल शास्त्री, सन् १९२२।

८. तन्त्रालोक भाग ८।

९. तन्त्रालोक भाग ३, ग्रन्थांकः ३०, सम्पादक श्री मधुसून कौल शास्त्री, सन् १९२१।

१०. तन्त्रसारः, ग्रन्थांकः १७, सम्पादक, म० म० मुकुन्दराम शास्त्री, सन् १९१८।

११. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी भाग ३, ग्रन्थांक: ६५, सम्पादक श्री मधुसून कौल शास्त्री, सन् १९४३ ।

१२. तन्त्रालोक भाग ७ ।

१३. शिवदृष्टिः, ग्रन्थांक: ५४, सम्पादक श्री मधुसून कौल, सन् १९३४ ।

१४. श्री मालिनी विजय वार्तिकम्, ग्रन्थांक: ३१, सम्पादक श्री मधुसूदन कौल शास्त्री, सन् १९२१ ।

१५. शिवसूत्रवार्तिकम्, कश्मीर ग्रन्थावली चतुर्थ, पंचमखण्डे, सन् १९१६ ।

• • •

संस्कृति : आधुनिक संदर्भ

बलजीत सिंह, एम० ए०, एम० फिल्०
अनुसंधित्सु, हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

*

आज का युग विज्ञान का होकर रह गया है। विज्ञान के निर्बाध, निरन्तर और द्रुत-गति से प्रगति के नित नवीन चरणों को सर कर लेने की क्षमता ने मानवीय जीवन के व्यापार क्षेत्र को इतना आतंकित और अपनी मजबूत पकड़ में ले लिया है कि मानव जीवन का कोई भी धरातल अपनी साँस नहीं ले पा रहा। सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, नैतिक आदि सभी आदर्शों के रूप-प्रकार इस कदर बदलते जा रहे हैं कि आज के संदर्भों के चौखटे में जीवन के एक वर्ष पूर्व के मापदण्ड भी अपूर्ण और अस्वस्थ प्रतीत होते हैं। जीवन अपने ही स्थापित प्रतिमानों से नितान्त असम्बद्ध और दूर सा लगता है।

संक्रमण और विघटन की स्थिति और गति भी देखने योग्य है। हिन्दी साहित्य का इतिहास देखें तो आदि काल से लेकर आधुनिक काल की सीमा में प्रवेश करने तक प्रत्येक कालविशेष की नियति और चेतना का एक विशेष कालपर्व मिल जाता है। किन्तु आधुनिक काल में पाँव रखते ही जीवन का कुछ ऐसा पल्टा खाया हुआ उभार है कि समग्र स्थितियाँ और परिवेश किसी अनचीन्हें दर्द से बेचैन दीखते हैं। मूल्यों में विघटन ह्रास और परिवर्तन की गति का अनुमान इससे भी भलीभांति लगाया जा सकता है कि भारतेन्दु काल, द्विवेदी युग और फिर छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और फिर एकदम से नया और समसामयिक साहित्य आदर्श सामने आया। वस्तुतः साहित्य का यह सफर अपनी नैसर्गिक गति से न होकर आंतकित अवस्था में हुआ।

यहाँ एक प्रश्न जो सामने उभर आता है वह है कि इस सबके पीछे कारण क्या हैं ? क्यूँ आधुनिक काल में और विशेषकर स्वतन्त्रता के पश्चात् साहित्य की प्रत्येक विधा में इतना अधिक परिवर्तन आ रहा है ? क्या कारण है कि प्रत्येक विधा, विशेषकर कहानी एवं कविता हर दशक के बाद और अब तो हर पाँच अथवा तीन वर्ष बाद ही किसी नए आंदोलन अथवा नए वाद का 'लैबल' अपने ऊपर चढ़ा रही है। इस सबके पीछे जो दो मुख्य कारण हैं वह हैं (१) पश्चिम का प्रभाव एवं (२) राष्ट्रीय परिस्थितियाँ। पश्चिम के प्रभाव में वहाँ की विचारधारा, वहाँ की नई धारणाएँ, मान्यताएँ, विज्ञान की नई खोजें एवं आविष्कार का प्रभाव उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक काल के विभिन्न वादों एवं कालों पर पश्चिम के प्रभाव को मैं तो क्या कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। विशेषकर हिन्दी कहानी, जिसने अपना सफर पश्चिम की कहानी के बहुत बाद आरम्भ किया परन्तु कुछ ही समय के भीतर वह पश्चिम की कहानी के मुकाबले आ खड़ी हुई। आज हिन्दी की कहानी पश्चिम की किसी भी महान् कहानी अथवा किसी भी कहानी की नई विधा के सामने रखी जा सकती है। और इसके शिल्पगत स्वरूप का अध्ययन करने पर यह कहानी पश्चिमी कहानी से भी आगे निकल गई दिखाई देती है। इसका कारण क्या है? इसका स्पष्ट उत्तर इस तर्क में है कि पश्चिम की विभिन्न विचारधाराओं एवं धारणाओं से प्रभावित इस कहानी ने नया मोड़ लिया। इधर राष्ट्रीय परिस्थितियों में स्वतन्त्रता पूर्व एवं स्वतन्त्रता के पश्चात की परिस्थितियों ने इसे और नए रूप एवं नाम दिए। लेखक का परिवेश बदल गया और फलस्वरूप नए मूल्यों की तलाश आरम्भ हो गई।

पश्चिमी प्रभाव एवं राष्ट्रीय परिस्थितियों ने न सिर्फ पुराने मूल्यों एवं विचारों को चुनौती दी अपितु सम्पूर्ण संस्कृति को पर्त-दर-पर्त उदेड़ना आरम्भ कर दिया। अब उनके सामने संस्कृति एक नए रूप में आ खड़ी हुई है यद्यपि यह अभी भी अपने नए रूप को पूरी तरह प्राप्त नहीं कर सकी। वस्तुतः प्राचीन संस्कृति क्या है? पश्चिमी एवं भारतीय विचारकों का इस सम्बन्धी क्या विचार था इस पर यहाँ कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

संस्कृति क्या है? इस बात को जानने से पूर्व इस शब्द को जानना आवश्यक हो जाता है। संस्कृति परिष्कृत और परिमार्जित होने के भाव की सूचक है। इंग्लिश में संस्कृति के समानार्थक शब्द के रूप में बहुदा कल्चर (Culture) लिया जाता है। संस्कृति व्यापक और संकीर्ण दो रूप से अभिव्यंजित होता है। व्यापक रूप में यह नृत्तत्व विज्ञान (Anthropology) में प्रयोग में लाई जाती है और संकीर्ण अर्थ में संस्कृति एक वांछनीय वस्तु मानी जाती है और संस्कृत व्यक्ति एक श्लाघय व्यक्ति समझा जाता है। इस अर्थ में संस्कृति प्रायः उन गुणों का समुदाय समझी जाती है जो व्यक्तितत्व को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते हैं।

वैज्ञानिकों ने संस्कृति को सामाजिक प्रथा (Customs) और सभ्यता (Civilization) का ही पर्यायवाची शब्द माना है।

मनुष्य अपने जीवन को व्यतीत करने के लिये एक व्यवस्था को स्थापित करता है और उसे विकास देता है। इसी प्रकार वस्तुओं के निर्माण के साथ-साथ प्रथाएँ, आदर्श, धारणाएँ, रूढ़ियाँ, संस्थाएँ और विभिन्न पद्धतियाँ भी विकसित होती चली जाती हैं। यह एक वंश से दूसरे वंश तक हस्तांतरित (Transfer) होती चली जाती है। किन्तु यह क्रम तत्वों द्वारा न होकर मनुष्य के अनुक्रमण अथवा बुद्धि द्वारा सीखा हुआ होता है।

इसी तथ्य पर बल देते हुए ई० ए० हौबल कहते हैं कि संस्कृति सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों का कुल योग है।[1] एम० जे० होरिस्कोविट्ज़ के कथनानुसार संस्कृति मानवीय व्यवहारों का सीखा हुआ अंश है।[2] और ए० एल० क्रोवर ने भी संस्कृति से सम्बन्धित ऐसे ही विचार प्रकट किए हैं।[3]

1. "Culture is the sum total of learned behavior pattorns". E. A. Hoebal—Man in the primative world, Page 4.
2. "Culture is the learned portion of human behaviour" M. J. Herskovits—Man & his work, Page 3.
3. "The mass of learned & transmitted motor-reactions, habits, teachings, ideas, values & the behavior they induced from cutture". A. L. Kroeber—Anthropology, Page 252.

इन विद्वानों के कथनों से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बच्चा समाज में रहकर इन व्यवहारों के प्रतिमानों को स्वतः सीखता है और समाज भी उसको उसकी अपरिपक्व अवस्था में ही साँचे में ढाल लेता है संस्कृति का मानव पर सर्वाधिक प्रभाव रहा है। प्रत्येक समाज में निहित रहकर भी मनुष्य से कुछ भिन्न होती है इसी कारण मानव पर शासन करती है और उसके व्यवहार के क्षेत्र को निर्धारित भी करती है।

हमारे यहाँ अर्थात् भारतीय चिन्तन में संस्कृति को उसके व्यापक अर्थ में ही लिया जाता रहा है। इसमें समस्त क्रिया-कलाप, समस्त रीतिरिवाज तथा आत्मिक शुद्धता तक के सभी तत्व अथवा सोपान शामिल होते रहे हैं। संस्कृति बौद्धिक विकास की अवस्थाओं को सूचित करती है और सभ्यता के परिणाम स्वरूप ही शारीरिक और भौतिक विकास होता है।

डा० देवराज ने संस्कृति एवं सभ्यता का उल्लेख करते हुए लिखा है—"सभ्यता तथा संस्कृति दोनों मनुष्य की सृजनात्मक क्रिया के कार्य अथवा परिणाम हैं। जब यह क्रिया उपयोगी लक्ष्य की ओर गतिमान होती है तब सभ्यता का जन्म होता है और जब वह मूल्य-चेतना को प्रवुद्ध करने की ओर अग्रसर होती है तब संस्कृति का उदय होता है।"[१]

रामधारी सिंह 'दिनकर' के शब्दों में, "असल में संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं।"[२]

डा० सत्यकेतु इसे मनुष्य द्वारा सुन्दर और कल्याणमय जीवन के लिए किए गए यत्न मानते हुए लिखते हैं, "चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सुन्दर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो यत्न करता है उसका परिणाम संस्कृति के रूप में प्राप्त होता है।"[३]

डा० राधाकृष्ण के कथनानुसार—"संस्कृति विवेक बुद्धि का जीवन को भली प्रकार से जान लेने का नाम है।"[४] डा० मायारानी के लिए संस्कृति मानव के उन वैयक्तिक और सामाजिक कार्यों की अभिव्यक्ति है जिनके द्वारा मानवता को पशुता से मुक्ति मिलती है।[५]

इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट जीवन-मूल्यों की ओर संकेत मिलता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति को समझे विना जीवन-मूल्यों का स्पष्टिकरण कठिन है। यहाँ यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि दोनों का अर्थात् जीवन-मूल्यों तथा संस्कृति का सम्बन्ध मानव से है।

भारतीय जीवन दर्शन में इहलोक और परलोक दोनों की महत्ता को स्वीकारा गया है। भारतीय संस्कृति में भी यह बात दिखाई देती है और इसलिए हमारे जीवन में भी। भारतीय चिन्तन में जीवन में काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष आदि मूल्यों अथवा पुरुषार्थों का सम्यक निर्वाह होना अनिवार्य तत्व माना जाता रहा है।

अर्थ और काम का सीधा सम्बन्ध इहलौकिक जीवन अथवा भौतिक धरा से जुड़ा है। और धर्म एवं मोक्ष का सम्बन्ध पारलौकिक जीवन से जुड़ा है किन्तु भारतीय जीवन

१. डा० देवराज संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ० ११७।
२. रामधारी सिंह दिनकर—संस्कृति के चार अध्याय, ६५६।
३. भारतीय संस्कृति और उसका विकास—डा० सत्यकेतु, पृ० १९।
४. डा० राधाकृष्ण—स्वतन्त्रता और संस्कृति—अनु० वि० न० त्रिपाठी, पृ० ५३।
५. डा० मायारानी टंडन—अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, पृ० २८।

दृष्टि में दोनों का समन्वय होते हुए भी पारलौकिक जीवन दृष्टि को ही अन्तिम श्रेय और महत्व प्राप्त है क्योंकि मुक्ति पर ही यहाँ अधिक बल दिया जाता रहा है। डा० देवराज ने संस्कृति का विवेचन ही जीवन मूल्यों के संदर्भ में किया है इस प्रकार उन्होंने सभ्यता और संस्कृति के परस्पर सम्बन्ध की भी चर्चा की है। किसी व्यक्ति की संस्कृति वह मूल्य चेतना है जिसका निर्माण उसके सम्पूर्ण बोध के आलोक में होता है। सांस्कृतिक चेतना जितनी मूल्य चेतना है उतनी तथ्य चेतना भी है। वह चेतना यथार्थ तथा सम्भावय को अर्थवत के रूप में ग्रहण करती है। मनुष्य लगातार जीवन की नई-नई सम्भावनाओं के चित्र बनाता रहता है। यह सम्भावय चित्र ही वे मूल्य हैं जिनके लिए वह जीवित रहता है। जिन आदर्शों एवं मूल्यों को लेकर मनुष्य जीवित रहता है उनकी गरिमा और सौंदर्य उस मनुष्य के सांस्कृतिक महत्व का माप प्रस्तुत करते हैं।[1]

वास्तव में यही जीवन मूल्य है जो संस्कृति को इतिहास से अलग करते हैं क्योंकि इतिहास कालक्रम की चेतना है जबकि संस्कृति काल के माध्यम से ही कालातीत हो जाने की प्रक्रिया है जिसका विकास मूल्यों के आगे बढ़ने की सम्भावनाओं को दृष्टि में रख कर ही सम्भव होता है।

भारतीय संस्कृति मूल्यों के आधारभूत चार पुरुषार्थ ही रहे हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि काम और अर्थ की क्षणभंगुरता से परिचित होकर ही उसे इहलौकिक जीवन मूल्यों और दर्शन में पूर्ण स्थान प्राप्त है यद्यपि यह मूल्य अथवा पुरुषार्थ महत्ता नहीं रखते और सर्वोत्तम पुरुषार्थ धर्म और मोक्ष ही है जो आध्यात्मिक मूल्यों के साथ ही है किन्तु इसकी प्राप्ति का माध्यम यही सांसारिक सत्य है एतेव भौतिक और आध्यात्मिक पक्ष में कोई विरोध नहीं।

सांसारिक सम्बन्ध सुख-ऐश्वर्य सब कुछ क्षणभंगुर एवं नश्वर होते हुए भी उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इस सबके अस्तित्व में ही जीवन क्रिया है। शाश्वत सत्ता सांसारिक पदार्थों के रूप में व्यक्त होती है और इसीलिये उस तक अर्थात् शाश्वत सत्ता अथवा परम् सत्ता तक पहुँचने का मार्ग संसार के ही माध्यम से है। वास्तव में दोनों परस्पर अविछिन्न रूप से सम्बन्धित हैं और उन्हें अलग करना अनुचित और भ्रांतिकारक होगा। इन दोनों को मिलाने से ही मानव जीवन के वास्तविक स्वरूप, महत्व और लक्ष्य का निरूपण और निर्धारण का सिद्धान्त सम्भव हो सकता है।

पुरुषार्थ जीवन मूल्यों का ही पर्याय है। पुरुष के अर्थ में ही सभी जीवन मूल्य समाहित है। पुरुषार्थ का तात्पर्य प्रयत्न अथवा प्रयत्नों से है। वे प्रयत्न जिनसे जीवन के उद्देश्य की पूर्ति होती है।

भारतीय चिन्तन के धरातलों को जब हम इस आधार पर विश्लेषित करते हैं तो समाज दर्शन के संकेतों को जीवन के वर्तमान यथार्थ के अनुरूप प्रयत्नों के क्रम में परिलक्षित करते हैं। ऐसा करने से भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक मूल्यों का इतिहास और लक्ष्य अपने आप ही अपने रूप में सामने आ जाता है।

मूल्यों का इतिहास अपने आप में एक संक्रमण का सुदीर्घ व्यौरा है। समय के साथ-साथ इन्हीं पुरुषार्थों में से एक अथवा अन्य किसी दूसरे को महत्त्व प्राप्त होता रहा है। किन्तु जीवन की अनिवार्यताएँ अंततः जुड़ी तो इन्हीं धरातलों से ही हैं। धर्म की सिद्धि काम

१. डा० देवराज—संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ० १७४।

के रास्ते से होकर ही सम्भव है। महात्मा गांधी के कथनानुसार "जो मनुष्य काम को जीतता है, वह संसार को जीत लेता है, ऐसा ईश्वर का वचन है।"[१] अर्थात् काम की महत्ता इसी तथ्य से स्पष्ट है कि इहलोक में अथवा परलोक के लिए काम पर विजय पाना अथवा उसे सही मानों में प्रयोग में लाना आवश्यक है।

इधर कभी आध्यात्मिक स्तर की प्रतिष्ठा और कभी अर्थ की संस्थापना जीवन में अनिवार्यताओं के आधार पर ही महत्वपूर्ण होती रही हैं।

जीवन मूल्यों के इन सांस्कृतिक आधारों में समाज और व्यक्ति, भोग और आध्यात्म या फिर जीवन जीने का एक उत्तम विधान बाँधने के ही संकेत मिलते हैं। समाज में ही व्यक्ति द्वारा मूल्यों का निर्माण और उनमें अपनी इच्छा द्वारा परिवर्तन और परिवर्धन होता है।

मूल्यों की दृष्टि से (और वह भी संक्रमण और विघटन एवं नव-मूल्य निर्माण के संदर्भ में) समाज का विशेष महत्व माना जाना चाहिए; क्योंकि जीवन का सम्बन्ध जितना व्यक्ति से है उतना ही समाज से भी है। यह सामाजिक संरचना और आक्रोश का परिणाम ही मूल्यों में बदलाव लाता है। यहाँ स्वतः ही सामाजिक परिस्थितियाँ महत्वपूर्ण हो जाती हैं।

मानव एक सामाजिक प्राणी होने के साथ-साथ एक विवेकशील प्राणी भी है। वह अपनी अनिवार्यताओं के अनुरूप ही अपनी विवेकशक्ति के अनुसार मूल्यों का निर्माण व निर्धारण का कार्य करता है। वस्तुतः मूल्यों का बोध उसके विकास का सामान्य धर्म अथवा क्रम है। यहाँ मूल्य संक्रमण में जो दूसरा महत्वपूर्ण बिन्दु उभरकर सामने आता है वह है वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का भाव जो स्वयं में एक मूल्य है। इसी को स्पष्ट करते हुए नेमिनारायण जोशी अपने लेख 'व्यक्ति-स्वतन्त्र्य : पृष्ठभर चिन्तन', में कहते हैं, "आश्चर्य यह है कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य का यह मूल्य पौराणिक पक्ष 'फिनिक्स' की भाँति हर बार अपनी राख अपने समष्टि के नानाविध रूपों, समाज, प्रशासन, कानून, संविधान, धर्म आदि में जूझने लगता है। जान पड़ता है इस मूल्य का बीज मनुष्य के रक्त में है और यह रक्त-बीज अपनी जिजीविषा से अपनी प्रेरणाशक्ति में अत्यन्त उदम और दुर्निवार है। शायद यह उस दिन तक जुझाए बना रहेगा, जब तक व्यक्ति असहाय, अकिंचन, बौना, मूक और पंगु बना रहेगा और विश्राम तभी लेगा जब व्यक्ति आत्म-निष्ठ बनकर अखण्ड स्वतन्त्रता का उपभोग करने लगेगा।"[२]

विघटन और मूल्यों के अन्तिम नव-निर्माण के कार्य का अन्तिम सोपान विज्ञान के मानव जीवन में परिवेश से जुड़ा हुआ है। पदार्थ के सत्य की स्वीकृति ने मनुष्य के शरीर को (सूक्ष्म रूप में उसके व्यक्तित्व को और भौतिक परिवेश अर्थात् जड़, प्रकृति और समाज को) प्रमुखता दे दी। शारीरिक दृष्टि से नीति-निरपेक्ष-स्वतन्त्रता, व्यक्तिवाद, भोगवाद, सुखवाद, उपभोगवाद आदि मूल्यों के संदर्भ आ जुड़े उधर भौतिक परिवेश में मार्क्सवाद, पूँजीवाद, मानवतावाद, प्रजातन्त्र, बुद्धिमता आदि ने सर उभारा। यह सब वस्तुतः विज्ञान के कारण ही हुआ। विज्ञान के विकास ने चिन्तन के स्तर को बदला उसे गति दी। फलस्व-

१. महात्मा गांधी—संयम और संतति नियमन, पृ० १०९।
२. नेमिनारायण जोशी—व्यक्ति-स्वतन्त्र्य : पृष्ठभर चिन्तन : बिन्दु—मूल्य विशेषांक, अक्टूबर ६७, पृ० ७१-७२।

रूप जीवन के प्रति मानव दृष्टिकोण बदला। काम और अर्थ के महत्वपूर्ण हो जाने से धर्म और मोक्ष की आवश्यकता और उनके महत्व पर एक प्रश्न चिह्न लग गया।

अर्थ के साथ-साथ काम भी आज के युग में एक आवश्यकता समझा जाने लगा है। काम का क्षेत्र धीरे-धीरे फैलता चला गया और "आज काम का कार्य क्षेत्र काफी व्यापक समझा जा रहा है। इतना व्यापक कि बच्चे को अँगूठा चूसने में, चोर को चोरी करने में, तपस्वी को तपस्या में लीन रहने में, कवि को कविता रचने में और चितेरे को चित्र बनाने में जो सुख मिलता है, उस सुख को काम-सुख या काम-विच्युति-सुख कहकर काम की सर्व व्यापकता मनवायी जाती है।"[१] इस संदर्भ में काम का अर्थ मात्र स्त्री और पुरुष के संभोग से प्राप्त होने वाले सुखानुभव से जुड़ा हुआ नहीं रह गया है।[२]

धीरे-धीरे लोग इसकी महत्ता को स्वीकार करने लगे हैं। जहाँ तक स्त्री-पुरुष के शारीरिक सम्बन्धों का प्रश्न है वहाँ भी काम संतान-उत्पत्ति के लिए ही न होकर व्यक्तिगत आनन्द की प्राप्ति का साधन बन गया है और यह सम्बन्ध अत्यावश्यक एवं महत्वपूर्ण बन गया है। राधाकृष्णन भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए इसे जनसमुदाय के लिए अति-आवश्यक मानते हैं।[३]

काम सम्बन्ध ने लगभग सभी सम्बन्धों को एक नए रूप में ला खड़ा किया है। प्रत्येक सम्बन्ध के आगे काम सम्बन्ध के संदर्भ में एक प्रश्न चिह्न लग गया है। फलस्वरूप मूल्यों में परिवर्तन का आ जाना स्वाभाविक ही है। यही परिवर्तन नये जीवन-मूल्यों के निर्माण में कार्यरत है। नारी भी पुरुष की तरह काम सम्बन्धों के मामले में पूर्णरूपेण स्वतन्त्र होना चाहती है। इस स्वतन्त्रता को पाने के लिए उसने पुरुष की स्वतन्त्रता को चुनौती देनी आरम्भ कर दी है।[४] वास्तव में आज काम व्यक्तिगत आनन्द एवं सुख का साधन बन चुका है और डा० राधा कृष्णन के अनुसार यह सोचना सही नहीं है कि पुरुष एवं स्त्री मात्र संतान उत्पत्ति में ही सुख का अनुभव करें और यह सोचना भी गलत है कि काम एक पाप है।[५]

ऐसी स्थिति में जहाँ एक वर्ग ने पूरी तरह काम सम्बन्धों को अपने लिए सुरक्षित मान लिया है और दूसरा वर्ग इसे चुनौती देकर अपने लिए भी सुरक्षित रख लेना चाहता है किसी भी मूल्य की स्थापना कठिन ही नहीं असम्भव सी है।

ऊपर संस्कृति के जिन पुरुषार्थों का उल्लेख किया गया है उनमें से धर्म और मोक्ष

१. दयानंद वर्मा—प्राक्कथन—यौन-व्यवहार अनुशीलन, पृ० ९।
२. " 'काम शास्त्र' में काम का ताप्पर्य उस तीव्र इच्छा से है जो स्त्री और पुरुष के संभोग से प्राप्त होने वाले सुखानुभव के लिए होती है।" वात्स्यायन, कामसूत्र—हिन्दी अनुवाद—कविराज विपिनचन्द्र बंधु, पृ० २०।
3. For the vast majority of men & women & for the race as a whole the sex—relation is one of the most urgent & important". Dr. Radakrishnan—Religion & Socity, Page 150.
4. "After centuries of suppression & silent resignation in sexual field the educated woman, particularly the educated working women have started challenging & questioning the justificability of the double standard of sexual morality". Dr. Promilla Kapoor. Love Marrige & sex. Page 262.
5. "It is not right to think that a man & a woman should not take physical delight in each other for its own sake & should do so only for the sake of children. It is wrong to think that sexual desire in itself is evil & virtue consists in dominating & suppressing it on principle". Dr. Radhakrishan. Religion & Socity, Page 189-190.

(जैसा कि पहले कहा जा चुका है)। भौतिकवाद के कारण लगभग अपनी महत्ता को खो चुके हैं। अर्थ के सम्बन्ध में भी स्थिति ऐसी ही उलझी हुई है। बेकारी, ग़रीबी, शोषण, भ्रष्टाचार आदि दिन-प्रति-दिन बढ़ते जा रहे हैं। कोई भी आर्थिक मूल्य दिखाई नहीं देता हालाँकि पुराने सभी मूल्यों को ठुकराया जा चुका है या फिर यह मूल्य स्वयं मर गए। कोई भी पहलु लें स्थिति भटकती हुई दिखाई देती है, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक सभी स्थितियाँ अपने स्वरूप को खो चुकी हैं। डा० महीप सिंह के अनुसार, "सिद्धान्तहीन राजनीति का नंगा नाच इस कदर देश में खेला गया कि ऐसा लगने लगा कि सिद्धान्तहीनता, मूल्यहीनता और चरित्रहीनता ही इस देश के सबसे बड़े सिद्धान्त मूल्य और चरित्र बन गए हैं। देश के स्तर पर व्यक्ति असुरक्षित महसूस कर रहा था, क्योंकि दल-बदल की राजनीति में ख्याति नामा राजनेता खुले आम बिक रहे थे, इसलिए प्रशासन नाम की चीज़ लुप्त होती जा रही थी।"[१] यह स्थिति मात्र राजनीति में ही देखने को नहीं मिलती अपितु धर्म, समाज, व्यवस्था सबकी यही दशा है। इसका कारण क्या है? और प्रश्न का उत्तर स्वतः मिल जाता है जब हम अपनी संस्कृति के स्वरूप की ओर देखते हैं जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

संस्कृति के आधारभूत पुरुषार्थों के स्वरूप में ही जब बिखराव आ गया, उनसे सम्बन्धित मूल्य जड़ हो गए और नए मूल्यों की स्थापना में कोई भी स्पष्ट मार्ग दिखाई नहीं देता तब ऐसी स्थिति में संस्कृति का स्वरूप मिल पाना कठिन है। हमारा सम्पूर्ण जीवन "क्या है?" और "क्या होना चाहिए?" इन दो सीमाओं से सम्बद्ध है। हमारा जीवन सदैव "है" की स्थिति से उठ कर "होना चाहिए" की स्थिति की उपलब्धि की ओर बढ़ता है। इसी के मूल में जीवन की गतिशीलता कार्य रूप से व्यंजित भी होती है। यही नव-मूल्य चेतना का सोपान है।

परन्तु आधुनिक समय में संस्कृति का स्वरूप लगभग कुछ भी न होने के कारण 'है' से "होना चाहिए" की सीढ़ी की ओर अग्रसर न होकर अस्पष्टता एवं अस्थिरता के कारण 'है' की अवस्था में ही भटक रहा है। प्रयत्नशील होते हुए भी व्यक्ति कोई स्पष्ट दिशा नहीं ढूँढ़ पा रहा है। फलस्वरूप उसे हर बात से प्रतिदिन पुरानेपन की बू आने लगती है और वह कुछ नया ढूँढ़ने का प्रयत्न करने लगता है। यदि हम साहित्य के पिछले चालीस वर्षों को ही देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी। विशेषकर कहानी एवं कविता के क्षेत्र में तो यह अधिक प्रबल रूप से देखने को मिलती है।

अंततः हम यह कह सकते हैं कि आज विज्ञान के युग में संस्कृति अपने किसी स्पष्ट स्वरूप के अभाव में एक दिशा देने में असमर्थ है। यद्यपि नई सांस्कृतिक भूमि की खोज अभी भी जारी है परन्तु इसका स्वरूप क्या होगा और कब सामने आएगा यह अभी समय के गर्भ में ही छिपा है।

• • •

१. महीप सिंह—१९७९ की हिन्दी कहानियाँ—एक कथा वर्ष से गुजरते हुए, पृ० १-२।

संघ की राजभाषा के रूप में हिन्दी : सम्भावनाएँ

राजेन्द्रकुमार गुप्त

हिन्दी प्राध्यापक, गृह मंत्रालय, भारत सरकार

*

भारत के संविधान के अनुच्छेद ३४३ (१) में यह व्यवस्था है कि संघ की राजभाषा देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी होगी और संघ के सरकारी प्रयोजनों के लिए भारतीय अंकों के अन्तर्राष्ट्रीय रूप का प्रयोग होगा। इसी अनुच्छेद के खण्ड (२) में यह व्यवस्था है कि संविधान लागू होने से पन्द्रह वर्ष की अवधि तक उन सभी सरकारी प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी का प्रयोग होता रहेगा जिन प्रयोजनों के लिए संविधान लागू होने से ठीक पहले अंग्रेजी का प्रयोग हो रहा था। परन्तु राष्ट्रपति, उक्त अवधि में, आदेश द्वारा संघ के सरकारी प्रयोजनों में से किसी प्रयोजन के लिए, अंग्रेजी भाषा के साथ-साथ हिन्दी भाषा का तथा भारतीय अंकों को अन्तर्राष्ट्रीय रूप के साथ-साथ देवनागरी अंकों का प्रयोग प्राधिकृत कर सकते हैं।

संविधान की इस धारा के अनुसार संविधान लागू होने के पन्द्रह वर्ष की अवधि तक ही केवल अंग्रेजी का प्रयोग सरकारी प्रयोजनों के लिए प्राधिकृत था। अर्थात् २६ जनवरी १९६५ को संघ की राजभाषा देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी होनी थी। लेकिन साथ ही साथ संविधान के अनुच्छेद ३५१ का महत्व भी कम नहीं है। इसके अनुसार हिन्दी को भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बनाने का निर्देश दिया गया था। साथ ही साथ यह भी कहा गया था कि हिन्दी का विकास इस प्रकार किया जाए, ताकि उसमें हिन्दुस्तानी और संविधान की अष्टम अनुसूची में उल्लिखित दूसरी भारतीय भाषाओं के रूप, शब्दावलियों और पदावलियों का समावेश हो और आवश्यकता के अनुसार दूसरी भारतीय भाषाओं के शब्दों को भी उसमें लिया जाए।

संविधान की यह धारणा थी कि राजभाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग धीरे-धीरे विकसित किया जाए। अतः यह व्यवस्था की गयी कि एक राजभाषा आयोग और संसदीय राजभाषा समिति हिन्दी के प्रयोग की जाँच करें और इस पर विचार करें कि क्या पन्द्रह वर्ष की निर्धारित अवधि में अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को लागू करना सम्भव है? तथा संसद को यह अधिकार दिया गया कि यदि आवश्यक हो तो संसद कानून बनाकर पन्द्रह वर्ष की इस निर्धारित अवधि को आगे बढ़ा सकती है। तदनुसार राजभाषा आयोग की स्थापना हुई तथा उसने अपने प्रतिवेदन में, जो कि १९५६ में प्रस्तुत किया गया, सलाह दी कि १९६५ के बाद भी सह-भाषा के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग जारी रखा जाना चाहिए और

उसी के अनुरूप संसदीय समिति ने अपनी संस्तुति दी तथा इस ओर भी संकेत दिया कि इस बात का पूरा ध्यान रखा जाए कि हिन्दी का विकास अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में किया जाए तथा इसके विकास में तत्कालीन सरकारी कर्मचारियों की भाषा सम्बन्धी जानकारी तथा उनकी क्षमता का भी ध्यान रखा जाए।

उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए राजभाषा अधिनियम १९६३ बनाया गया जिसमें यह व्यवस्था की गयी कि १९६५ के बाद भी अंग्रेजी का प्रयोग संघ के प्रयोजनों के लिए जारी रहेगा। लेकिन कुछ अहिन्दी-भाषियों का एक तर्क था कि राजभाषा अधिनियम की धाराओं में आश्वासन पूरी तरह नहीं आ पाये, अतः राजभाषा अधिनियम को १९६७ में फिर संशोधित किया गया।

राजभाषा अधिनियम १९६३ का संशोधित राजभाषा अधिनियम १९६७ के पारित होने की वजह से राजभाषा के रूप में हिन्दी की स्थिति को आघात पहुँचा और इसी कारण हिन्दी आज भी संघ के सरकारी प्रयोजनों में पूर्ण रूप से पदस्थापित नहीं हो पायी। इस नियम के अनुसार १९६५ के बाद भी हिन्दी के साथ-साथ संघ के सभी सरकारी काम-काज के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग प्राधिकृत किया गया। इसके अतिरिक्त संकल्प, सामान्य आदेश, अधिसूचनाएँ, प्रेस विज्ञप्तियाँ, रिपोर्ट, संविदा और करार जैसे कागज-पत्रों के लिए हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं का प्रयोग अनिवार्य रूप से कर दिया गया। इस अधिनियम में यह भी व्यवस्था की गयी कि इन उपबन्धों के अनुसार अंग्रेजी का प्रयोग तब तक जारी रहेगा जब तक उन्हें समाप्त करने के लिए हिन्दी को राजभाषा के रूप में अपनाने वाले राज्यों के विधान-मंडल संकल्प पास न करें और उस पर विचार करके संसद के दोनों सदन ऐसा ही न करें।

इस प्रकार उपरोक्त उपबन्धों को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि राजभाषा के रूप में हिन्दी को भारत के सभी राज्यों में तब तक पदस्थापित नहीं किया जा सकता तब तक वे राज्य ऐसा न चाहें। अतः हिन्दी भाषा को राजभाषा के रूप में विकसित करने के लिए यह आवश्यक हो गया कि भाषा का विकास इस तरह से किया जाए ताकि प्रत्येक राज्य के विधान-मंडल इसे अपना सकें।

इस समय राजभाषा के रूप में हिन्दी की स्थिति संक्रमण-काल जैसी है। राजभाषा अधिनियम की धारा ३ (३) के अनुसार जो कागजात द्विभाषी रूप में अनिवार्यतः तैयार करने होते हैं वहाँ भी हिन्दी को सह-भाषा के रूप में रखा जाता है तथा कागज-पत्र मौलिक रूप में अंग्रेजी में ही तैयार किए जाते हैं जबकि संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार निर्दिष्ट कागज-पत्र मौलिक रूप में हिन्दी में तैयार किये जाने चाहिये तथा उनका अनुवाद अंग्रेजी में कराया जाना चाहिए। दूसरे ऊपर जो संवैधानिक स्थिति दी गयी है इससे पता चलता है कि हिन्दी निकट भविष्य में पूर्ण रूप से संघ की राजभाषा नहीं हो सकती अपितु सरकारी कामकाज में एक दीर्घ कालीन स्थिति ने जन्म ले लिया है और इसके अनुसार हिन्दी का प्रयोग अंग्रेजी के साथ-साथ रहेगा न कि पूर्ण रूपेण स्वतंत्र।

राजभाषा के रूप में हिन्दी के प्रयोग को संविधान के अनुच्छेद ३५१ को ध्यान में रखते हुए धीरे-धीरे इस प्रकार बढ़ाया जा रहा है ताकि यह सारे भारत में राजभाषा के रूप में अपना स्थान ग्रहण कर सके। भारत सरकार ने इस कार्य की जिम्मेदारी गृह मंत्रालय को सौंपी तथा इन प्रावधानों को मूर्त्त रूप देने के लिए गृह मंत्रालय में एक स्वतंत्र विभाग (राजभाषा विभाग) की स्थापना की गयी जिसके लिए स्वतंत्र रूप से सचिव स्तर तक अधिकारियों

को नियुक्त किया गया है। राजभाषा विभाग स्वतंत्र रूप से राजभाषा सम्बन्धी उपबन्धों को ध्यान में रखते हुए अन्य भारत सरकार के सभी मंत्रालयों, विभागों तथा अधीनस्थ व सम्बद्ध कार्यालयों को हिन्दी के आगामी प्रयोग के लिए समय-समय पर आवश्यक निर्देश देता है।

राजभाषा अधिनियम १९६३ की धारणा को ध्यान में रखते हुए जून १९७६ में राजभाषा नियम बनाये गये जो कि तमिलनाडू को छोड़कर अन्य सभी स्थानों पर भारत सरकार के कार्यालयों, विभागों, केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त आयोग, समिति या अभिकरण का कार्यालय, केन्द्रीय सरकार के स्वामित्व में या नियंत्रण में किसी निगम या कम्पनी पर समान रूप से लागू होते हैं। इन नियमों के कुछ महत्वपूर्ण उपबन्ध इस प्रकार हैं—

(१) केन्द्रीय सरकार के मंत्रालयों और विभागों तथा हिन्दी भाषी क्षेत्रों में स्थित उनके कार्यालयों के बीच पत्र-व्यवहार हिन्दी में एक निर्धारित अनुपात में होगा।

(२) अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में स्थित केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों के बीच पत्राचार हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में से किसी भी एक भाषा में किया जा सकता है।

(३) राजभाषा अधिनियम १९६३ में उल्लिखित सभी कागज-पत्र जैसा कि धारा ३ (३) में दिखाया गया है, अनिवार्यतः दोनों भाषाओं में जारी किये जायेंगे। यह भी निर्देश दिया गया है कि उन कागज-पत्रों पर हस्ताक्षर करने वाले अधिकारी का यह कर्त्तव्य होगा कि वह सुनिश्चित करे कि वह कागज-पत्र द्विभाषी रूप में जारी किया जा रहा है।

(४) कर्मचारी जो अपना नोट हिन्दी या अंग्रेजी में लिखते हैं, उन्हें उस नोट का अनुवाद दूसरी भाषा में करने की जरूरत नहीं है।

(५) केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों से सम्बन्धित सभी मैनुअल, संहिताएँ विधि-साहित्य द्विभाषी रूप में तैयार कराये जायेंगे। तथा सभी फार्म, रजिस्टरों के शीर्षक, नाम-पट्ट, सूचनापट्ट तथा लेखन-सामग्री आदि के नाम द्विभाषी रूप अर्थात् हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं में होंगे।

(६) हिन्दी में प्राप्त होने वाले सभी पत्रों का उत्तर हिन्दी में ही देना अनिवार्य है। यदि कोई पत्र अंग्रेजी में लिखा हो तथा उस पर भेजने वाले (प्रेषक) के हस्ताक्षर मात्र हिन्दी में हों, तो उस पत्र का उत्तर भी हिन्दी में देना आवश्यक है।

(७) प्रत्येक कार्यालय के प्रशासनिक अध्यक्ष को यह जिम्मेदारी सौंपी गयी है कि वह राजभाषा अधिनियम और राजभाषा नियमों के अनुपालन को अपने कार्यालय में सुनिश्चित करे।

(८) जिन कार्यालयों में ८०% या अधिक कर्मचारियों को हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान प्राप्त है उन्हें राजपत्र में अधिसूचित किया जाए ताकि उस कार्यालय में तैनात कर्मचारी हिन्दी में पूर्ण कार्य करें।

(ये नियम तमिलनाडू पर लागू नहीं हैं।)

उपरोक्त नियमों के पारित होने के परिणामस्वरूप संघ की राजभाषा के रूप में हिन्दी की सम्भावनाएँ उज्जवल प्रतीत होने लगी हैं। नियमों का सीधा प्रभाव केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों पर पड़ा है तथा हिन्दी के कार्यान्वयन पक्ष को मजबूत सहारा मिला है। इन नियमों के पारित हो जाने से केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों में न्यूनतम कार्य जो कि इन में करना पड़ रहा है वह निम्न प्रकार हैं—

(क) संवैधानिक दृष्टि से निम्न कागजात द्विभाषी रूप में तैयार कराये जाते हैं।

(१) कार्यालय से जारी सभी सामान्य आदेश।

(२) संविदाएँ, करार, प्रेस विज्ञप्तियाँ, अधिसूचनाएँ और संकल्प।

(३) रिपोर्ट, संसद के समक्ष रखे जाने वाले प्रशासनिक तथा अन्य प्रतिवेदन और राजकीय कागज-पत्र।

इसके अलावा हिन्दी में प्राप्त सभी पत्रों का उत्तर सुनिश्चित रूप से हिन्दी में दिया जाता है तथा यदि किसी कर्मचारी को इस प्रकार पत्राचार करने में असुविधा प्रतीत होती है तो ऐसे कर्मचारियों को सहायक साहित्य उपलब्ध कराया जाता है।

संघ सरकार के विभिन्न मंत्रालयों का इस प्रकार यदि अध्ययन किया जाए कि किस, मंत्रालय/विभाग में तथा संघ सरकार के स्वामित्व या नियंत्रण में तथा संघ सरकार के सम्बद्ध तथा अधीनस्थ कार्यालयों में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग की क्या स्थिति है तो निश्चय रूप से हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को भविष्य में बल मिलेगा।

स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति स्व० डा० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था "हिन्दी की होड़ किसी प्रान्तीय भाषा से नहीं, अपितु अंग्रेजी के साथ है। लेकिन सरकारी अधिकारियों तथा राष्ट्र की सत्ता के स्वामियों को अभी भी अंग्रेजी का मोह है तथा अंग्रेजी में लिखकर, बोलकर अपने को धन्य समझते हैं यही एक अहं पहलू है जो कि हिन्दी को राजभाषा का दर्जा हासिल होते हुए भी वह अबला है। हिन्दी का साहित्य अपने में पूर्ण है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से भारतीय भाषाओं में केवल हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो कि लिखने में, पढ़ने में, बोलने में एक समान है। इस प्रकार का गुण अन्य भाषाओं में दृष्टिगोचर नहीं होता। बोलने वालों की दृष्टि से भी हिन्दी भारत में सबसे अधिक बोली जाती है। समझने की दृष्टि से हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो कि भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक समझी जाती है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक सभी स्थानों पर हिन्दी प्रचुर मात्रा में बोली जाती है तथा समझी जाती है।

इसी संदर्भ में यह कहना भी आवश्यक है कि हिन्दी को इस प्रकार भारत की सम्पर्क भाषा बनाने में हिन्दी चलचित्रों तथा आकाशवाणी का एक बहुत बड़ा योगदान है। हिन्दी चलचित्रों को सभी भारतीय बड़े चाव से देखते हैं तथा उनके गीतों को बड़े ध्यान से सुनते हैं। इन गीतों को आकाशवाणी के 'विविध भारती' कार्यक्रम में मुख्यतः प्रसारित किया जाता है तथा अन्य कार्यक्रमों में तथा दूरदर्शन के कार्यक्रमों में भी प्रसारित किया जाता है जिसके कारण सभी भारतीय हिन्दी समझ सकते हैं तथा बोल सकते हैं। हिन्दी भाषा को और भी लोकप्रिय बनाने के लिए आकाशवाणी से रेडियो-वार्ता, भेंट वार्ता, समाचार, हिन्दी पाठ, विशेष श्रोताओं के लिए प्रसारित होने वाले कार्यक्रम, खेलों का आँखों देखा हाल, रेडियो नाटक, रूपक आदि प्रसारित होते रहते हैं जिनको सभी भारतीय बड़े शौक से सुनते हैं। यह सब प्रगति, सूचना व प्रसारण मंत्रालय के अन्तर्गत आती है तथा इस मंत्रालय के अन्य विभाग जैसे विज्ञापन व दृश्य प्रचार निदेशालय, पत्र सूचना कार्यालय आदि का सर्वेक्षण किया जा सकता है।

संघ सरकार की नीति के अनुसार संविधान के अनुच्छेद ३५१ को दृष्टि में रखकर राजभाषा की प्रगति तथा प्रसार करने के लिए गृह मंत्रालय में स्वतंत्र रूप से राजभाषा विभाग का गठन किया गया है। यह विभाग भारत सरकार के हिन्दी सलाहकार व सचिव के प्रशासन में कार्य करता है। राजभाषा विभाग में सचिव के अतिरिक्त एक संयुक्त सचिव भी है जिनका कार्य राजभाषा विभाग तथा संसदीय राजभाषा समिति के काम का संचालन करना है। राजभाषा विभाग के तीन स्कन्ध हैं (१) राजभाषा सेवाएँ, (२) कार्यान्वयन, (३) नीति।

इन तीनों स्कन्धों के लिए अलग-अलग उपसचिव स्तर का अधिकारी होता है जो कि अपने स्कन्ध का अध्यक्ष होता है। राजभाषा सेवाएँ विभाग में मुख्यतः भारत सरकार द्वारा संचालित हिन्दी शिक्षण योजना है जिसका मुख्य कार्य केन्द्रीय सरकार के अहिन्दी भाषी कर्मचारियों को हिन्दी तथा हिन्दी आशुलिपि व हिन्दी टाइप लेखन सिखाना है।

राजभाषा विभाग का दूसरा स्कन्ध कार्यान्वियन का है। इस स्कन्ध के बन जाने से राजभाषा के रूप में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बहुत बल मिला है। इस स्कन्ध के अध्यक्ष एक उपसचिव होते हैं तथा उनकी सहायता के लिए एक उपनिदेशक तथा अनुसंधान अधिकारी नियुक्त हैं। उपसचिव (कार्यान्वियन) का मुख्य कार्य भारत सरकार के विभिन्न कार्यालयों में हो रहे हिन्दी के प्रगामी प्रयोग का जायज़ा लेना है तथा इस प्रकार यदि किसी कार्यालय में कोई कमी महसूस होती है तो उस कार्यालय के प्रशासनिक मंत्रालय से सम्पर्क स्थापित करके उस कमी को पूरा करना है। इस स्कन्ध के गठन के परिणाम स्वरूप निम्न परिवर्तन केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों में हुए हैं—

(१) भारत सरकार के सभी कार्यालयों में जहाँ कि उस कार्यालय में नियुक्त कर्मचारियों की संख्या २५ से अधिक है, उन कार्यालयों में हिन्दी कार्यान्वियन समितियों का गठन किया गया है। इस प्रकार गठित प्रत्येक कार्यालय की हिन्दी कार्यान्वियन समिति का अध्यक्ष उस कार्यालय का प्रधान होता है। इसकी बैठक प्रत्येक तीन माह में होती है जो कि उस कार्यालय में हुए हिन्दी सम्बन्धी कार्य का मूल्यांकन करती है तथा यह सुनिश्चित करती है कि राजभाषा का प्रगामी प्रयोग संवैधानिक स्थिति के अनुसार है।

(२) भारत के बड़े-बड़े शहरों में, जहाँ कि केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों की संख्या काफी है, नगर राजभाषा कार्यान्वियन समितियों का गठन किया गया है इस समिति के अध्यक्ष उस शहर में पदस्थापित सामान्यतः सर्वोच्च अधिकारी होते हैं तथा प्रत्येक कार्यालय का प्रधान इस समिति का सदस्य होता है। इस समिति की बैठक छः माह में एक बार होती है तथा सामान्यतः इस बैठक में राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय का एक अधिकारी विशेष आमंत्रित के रूप में भाग लेता है। यह बैठक प्रत्येक कार्यालय में हुए हिन्दी के प्रगामी प्रयोग की जाँच करती है तथा तद्नुसार अपनी सिफारिशें कार्यवृत्त के रूप में संघ सरकार को भेजती है जिस पर सम्बन्धित मंत्रालय राजभाषा विभाग से मिलकर निर्णय लेते हैं।

(३) यह स्कन्ध राजभाषा के प्रगामी प्रयोग के लिए प्रतिवर्ष एक कार्यक्रम बनाता है जो कि परिपत्र के रूप में सभी कार्यालयों को भेजा जाता है और उसी के अनुरूप प्रत्येक कार्यालय कार्य करता है।

(४) यह स्कन्ध राजभाषा के प्रगामी प्रयोग की सुनिश्चितता को ध्यान में रखकर विभिन्न केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों का निरीक्षण भी करता है तथा इस प्रकार पायी गयी ख़ामियों के लिए सम्बन्धित मंत्रालय/कार्यालय को सावधान करता है।

राजभाषा विभाग का तीसरा स्कन्ध नीति सम्बन्धित विभाग है यह स्कन्ध राजभाषा के प्रगामी प्रयोग के लिए नीति निर्धारण करता है तथा भाषा-विशेषज्ञों तथा अन्य विद्वानों की सहायता लेकर विभिन्न पहलुओं पर आने वाली अड़चनों को ध्यान में रखकर इस प्रकार से नीतियों का निर्धारण करना है ताकि इस प्रकार पारित नीति कार्यान्वियन का स्थान लेने पर भारत की सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति के मार्ग में बाधक न हो। राजभाषा विभाग के अन्तर्गत ही एक और विभाग है "केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो" जिसका मुख्य कार्य अनुवाद व्यवस्था का संचालन करना है। भारत सरकार के विभिन्न कार्यालयों में अनुवाद की दृष्टि

से दो प्रकार का साहित्य पाया जाता है। एक तो वह साहित्य है जिसका अनुवाद संवैधानिक दृष्टि से अपना महत्त्व रखता है इस प्रकार के साहित्य/कागजातों का अनुवाद कार्य विधि मंत्रालय के अधीन राजभाषा विधायी आयोग करता था और अब यह कार्य विधि मंत्रालय के अधीन राजभाषा खण्ड कर रहा है।

भारत सरकार के विभिन्न विभागों में दूसरी तरह का अनुवाद उस तरह के कागजातों का अनुवाद है जिन कागजातों का स्थायी महत्त्व है जैसे नियमावलियों, रजिस्टर, फार्म और कार्य विधि साहित्य से सम्बन्धित संहिताएँ, मैनुअल आदि। यह सारी सामग्री विधिक भी है तथा विधीतर भी। इस प्रकार की सारी सामग्री का अनुवाद केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो करता है तथा भारत सरकार के विभिन्न कार्यालयों में नियुक्त हिन्दी अनुवादकों को इस प्रकार के साहित्य के अनुवाद करने का प्रशिक्षण भी देता है। केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो विभिन्न कार्यालयों में नियुक्त अधिकारियों को उनके कार्यालयों में प्रयुक्त होने वाले कागजातों के अनुवाद में भी सहायता प्रदान करता है, जैसे—संकल्प, अधिसूचनाएँ, प्रेस विज्ञप्तियाँ, प्रशासनिक रिपोर्ट तथा संसद के एक या दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत की जाने वाली सभी प्रकार की सामग्री और करार आदि। इस प्रकार के कागजातों का अनुवाद स्थायी महत्त्व का नहीं होता। अतः इस प्रकार के अनुवाद कार्य के निष्पादन तथा राजभाषा के कार्यान्वियन को सुनिश्चित करने के लिए भारत सरकार ने प्रत्येक कार्यालय/विभाग में निम्न प्रकार हिन्दी सम्बन्धी पदों के सृजन का प्रस्ताव किया है और इस प्रस्ताव को वित्त मंत्रालय की सहमति भी प्राप्त हो गयी है।

(१) जिस कार्यालय/विभाग में (चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों को छोड़कर) १०० या उससे अधिक कर्मचारी नियुक्त हों, वहाँ एक हिन्दी अधिकारी, हिन्दी अनुवादक तथा हिन्दी टाइप लेखक नियुक्त किये जायें।

(२) प्रत्येक कार्यालय में कम से कम एक हिन्दी अनुवादक तथा एक हिन्दी टाइप लेखक नियुक्त हो।

(३) पचास कर्मचारियों पर एक हिन्दी अनुवादक का पद सृजित किया जाए तथा प्रत्येक तीन अनुवादकों पर एक पद वरिष्ठ हिन्दी अनुवादक का हो।

इस प्रकार इस आदेश के कारण अब भारत सरकार के सभी विभागों में क्रमशः हिन्दी अधिकारी, हिन्दी अनुवादक तथा हिन्दी टंककों के पद सृजित किये जा रहे हैं तथा इन पदों को भरने के लिए शीघ्र प्रयत्न भी किया जा रहा है। सबसे बड़ी प्रसन्नता की बात यह है कि इस प्रकार प्रत्येक कार्यालय में इन पदों के सृजित हो जाने पर निश्चय ही संघ की राजभाषा के रूप में हिन्दी को बल मिलेगा तथा साथ ही साथ केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग के कार्यान्वियन में उन्नति होगी।

राजभाषा विभाग में एक और एकक है, "अनुसंधान स्कन्ध"। इस एकक का संचालन एक वरिष्ठ अनुसंधान अधिकारी की देख-रेख में चलता है। अनुसंधान एकक राजभाषा सम्बन्धी अनुसंधान के अतिरिक्त एक त्रैमासिक पत्रिका "राजभाषा भारती" का भी प्रकाशन करता है। राजभाषा भारती नामक पत्रिका हिन्दी के प्रगामी प्रयोग के बारे में, केन्द्रीय हिन्दी समिति द्वारा समय-समय पर लिये जाने वाले निर्णय के बारे में, तथा राजभाषा विभाग द्वारा अपनाए गये व जारी किये गये नीति सम्बन्धी परिपत्रों के बारे में जानकारी देती रहती है। आजकल तो यह पत्रिका राजभाषा के रूप में हिन्दी के प्रचार व प्रसार के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान दे रही है।

उपरोक्त लेख में संघ की राजभाषा के रूप में हिन्दी की सम्भावनाओं के लिए तथा इसके प्रचार-प्रसार के लिए गृह मंत्रालय, भारत सरकार के राजभाषा विभाग द्वारा उठाये गये महत्त्वपूर्ण पगों की चर्चा सार मात्र ही की गयी है। यदि इसी प्रकार संघ सरकार के प्रत्येक मंत्रालय/विभाग तथा उनके अधीनस्थ व सम्बद्ध कार्यालयों द्वारा उठाये गये पगों का अनुसंधानात्मक विश्लेषण किया जाए तो निश्चय ही यह एक इस दिशा में बहुत बड़ा कदम होगा। भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों, जैसे कि (१) विदेश मंत्रालय, (२) रेल मंत्रालय, (३) सूचना व प्रसारण मंत्रालय, (४) भारी उद्योग मंत्रालय, (५) रक्षा मंत्रालय, (६) कृषि मंत्रालय, (७) संचार मंत्रालय, (८) योजना आयोग, (९) शिक्षा मंत्रालय, (१०) खेल मंत्रालय, (११) आपूर्ति मंत्रालय, (१२) ऊर्जा मंत्रालय, (१३) परिवहन व जहाजरानी मंत्रालय, (१४) श्रम मंत्रालय, (१५) गृह मंत्रालय, (१६) निर्माण व आवास मंत्रालय, (१७) वाणिज्य मंत्रालय, (१८) संसदीय कार्य मंत्रालय, (१९) नागरिक उड्यन मंत्रालय आदि तथा इन मंत्रालयों के अधीनस्थ व सम्बद्ध कार्यालयों का राजभाषा के संदर्भ में अध्ययन भारत सरकार की राजभाषा नीति को सफल बनाने के लिये महत्त्वपूर्ण योगदान होगा।

• • •

कश्मीर की चित्रकला और उसका प्रसार

डा० अजयकुमार सिंह, (वरिष्ठ शोधछात्र)
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

*

भारतीय संस्कृति और कला इतिहास में सीमा प्रान्त कश्मीर का अपना विशिष्ट स्थान है। भारत के उत्तरोत्तर देशों में भारतीय संस्कृति तथा धर्म के साथ भारतीय कला के प्रसार का श्रेय भी कश्मीर को है। कश्मीर की मूर्ति व स्थापत्य कला भारतीय इतिहास का एक अद्वितीय दस्तावेज़ है, किन्तु कला की प्रमुख विधा चित्र-कला के प्राचीन अवशेषों के अभाव में यह अधूरा जान पड़ता है। प्राचीन चित्रों के अवशेषों की अनुपस्थिति के कारण यह मान लेना कि कश्मीर की अपनी कोई विशिष्ट चित्र-शैली नहीं थी, तर्कसंगत न होगा। वैसे भी यह सम्भव नहीं जान पड़ता है कि मध्यकालीन कश्मीर में जब कला के विभिन्न आयामों का चतुर्मुखी विकास हुआ हो—तब कला की एक प्रमुख और सजीव विधा चित्र-कला विकसित न हुई हो। कश्मीर से प्राप्त मूर्ति तथा स्थापत्य के अवशेष इस परिकल्पना को समर्थन देते हैं कि कश्मीर में भी भारत के अन्य भागों की भाँति गुप्तोत्तर प्रान्तीय चित्र-शैली का उद्भव व विकास हुआ। जलवायु तथा धार्मिक विपदाओं के फलस्वरूप चित्र-कला के प्राचीन अवशेष कश्मीर में प्राप्य नहीं हैं, किन्तु कश्मीरी चित्रों के अपरोक्ष उदाहरण हमें कश्मीर से बाहर गान्धार, मध्य एशिया तथा पश्चिमी तिब्बत के बौद्ध-विहारों से प्राप्त होते हैं।

कश्मीरी चित्र-शैली के अस्तित्व के प्रमाण कश्मीर के प्राचीन काव्य-ग्रन्थों व तिब्बत के बौद्ध-ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। कल्हण रचित बारहवीं शताब्दी के कश्मीरी ऐतिहासिक काव्य 'राजतरंगिणी' में चित्रकला के अनेक उल्लेख प्राप्त हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण चित्र-कला सम्बन्धी सन्दर्भ सोलहवीं शताब्दी के तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ द्वारा रचित 'भारत में बौद्ध-धर्म का इतिहास' से प्राप्त होता है। लामा तारानाथ के अनुसार, पूर्वी भारत में शासक देवपाल तथा धर्मपाल (आठवीं-नवीं शताब्दी) के समय दो प्रमुख चित्रकार धिमान और उसका पुत्र बिटपाल अपनी अलग-अलग शैलियों के लिए विख्यात थे। धिमान की शैली पूर्वी भारत तथा बिटपाल की चित्र-शैली मध्यदेश से पश्चिमी भारत तथा नेपाल तक प्रचलित थी। इसी समय कश्मीर में हसराज ने एक विशिष्ट शैली की स्थापना की[1], जिसके अवशेष आज उपलब्ध नहीं हैं। लामा तारानाथ के उल्लेखानुसार, मध्यदेशीय चित्र-शैली का प्रभाव

1. Lama Chimpa and Alka Chattopadhyaya; 'Taranath's History of Buddhism in India', Simla, 1970. Chapter 44, pp. 347-349.

कश्मीर तथा इसके आगे तक था। लामा तारानाथ के कथ्य की सत्यता गान्धार, मध्य एशिया तथा कश्मीर से प्राप्त छठी-सातवीं शताब्दी के कलावशेषों के शैलीगत् अध्ययन से प्रमाणित होती है।

ईसवीं सदी के आरम्भिक काल में कश्मीर की कला-शैली गान्धार व अन्य मध्य-एशियाई पड़ौसी प्रान्तों की कला-शैली से घनिष्ठ साम्य रखती प्रतीत होती है। विशेषकर चौथी शताब्दी तक कश्मीर की कला पर गान्धार के माध्यम से हेलिनिस्टिक तथा ससानियन ईरानी प्रभाव स्पष्ट दीखता है, जो इस सम्पूर्ण क्षेत्र की कला पर समान रूप से था।[1] निश्चित रूप से इसका आधार कश्मीर की भौगोलिक स्थिति व पश्चिमोत्तर प्रान्तों के साथ सांस्कृतिक समानता व घनिष्ठ सम्बन्ध था। छठी शताब्दी के लगभग कश्मीर व मध्य एशिया की कला पर गान्धार कला का प्रभाव प्रमुख रूप से दीखता है।[2] कश्मीर के उष्कर तथा अख़नूर नामक स्थानों से प्राप्त मृण्मूर्तियाँ गान्धार शैली से अत्यधिक प्रभावित हैं। लगभग इसी समय गुप्तकला का प्रभाव भी कश्मीर की कला के साथ-साथ गान्धार तथा मध्य एशिया के बौद्ध-विहारों पर पड़ता है। मध्य एशिया, वामियान तथा फ़न्दुकिस्तान के विहारों से प्राप्त मूर्तियों व चित्रों एवं कश्मीर से प्राप्त मूर्तिकला के अवशेषों पर गान्धार तथा गुप्तकला का मिश्रित प्रभाव दीखता है।[3] इस सम्पूर्ण भू-भाग के विभिन्न क्षेत्रों की कलाओं के क्रमिक विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध तथा एकरूपता के कारण फ़न्दुकिस्तान, वामियान तथा मध्य एशियाई बौद्ध-विहारों से प्राप्त प्राचीन चित्रों को कश्मीर की चित्र-कला के अपरोक्ष उदाहरण माना जा सकता है। इस सन्दर्भ में पुरातत्वविद् जे० हैकिन का मत है कि मध्य एशिया के खोतान, दन्दान उलिक तथा काशगर के बौद्ध-विहारों में प्राप्त चित्रों पर जो भारतीय प्रभाव कश्मीरी तत्वों के साथ विद्यमान है, वह कश्मीरी कला के माध्यम से प्रेषित हुआ है।[4]

मध्यकालीन कश्मीरी कला का उद्भव मुख्यतया ललितादित्य (७२५ से ७५६ ई०) का काल माना जाता है।[5] राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा कला के परिप्रेक्ष्य में ललितादित्य का काल कश्मीर का स्वर्णिम युग कहा जाता है। ललितादित्य के कुशल शासन-काल में कश्मीर का प्रभुत्व उत्तर भारत, गान्धार, समस्त पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, मध्य एशिया तथा पश्चिमी हिमालय की सुदूर घाटियों तक स्थापित हो गया था।[6] शक्तिशाली कश्मीर के बढ़ते हुए वैभव ने दूर-दूर के कलाकारों, विद्वानों तथा व्यापारियों को अपनी ओर आकर्षित किया। फलस्वरूप तत्कालीन कश्मीर की संस्कृति मूलतः भारतीय होते हुए भी सर्व-देशीय कलेवर लिए हुए थी, जिसका स्पष्ट प्रभाव तत्कालीन कला पर पड़ा। ललितादित्य तथा उसके बाद की कश्मीरी कला-शैली गुप्त, गान्धार, चीनी, मध्य एशियाई, ईरानी, बाइ-जनटाइन तथा स्थानीय कलातत्वों का अद्भुत सम्मिश्रण प्रस्तुत करती है[7], जो भारत की

1. Rowland, B, 'The Art and Architecture of India' London, 1956, pp. 69-72.
2. (i) 'Ibid' p. 105.
   (ii) Hallade, M. 'Gandharan Art of Northern India.' Newyork, 1968, pp 166-168 and 172.
3. Rowland, B., ''Op. Cit.'', pp. 99-103.
4. Hackin, J., 'Studies in Chinese Art and some Indian influence', London, 1938, p. 10.
5. Goetz, H., 'The Midiaeval Sculptures of Kashmir', Marg, Vol. VIII, No 2, 1955, p. 67.
6. (i) 'ibid.'
   (ii) Bamzai P. N. K., 'History of Kashmir'. New Delhi 1960, pp. 117-122, 266.
7. Goetz, H. 'op. Cit' p. 68.



दन्दान उलीक मध्य एशिया से प्राप्त सातवीं शताब्दी का नारी चित्र।



फन्दुकिस्तान के प्राचीन बौद्ध विहार (अफगानिस्तान) से प्राप्त सातवीं शताब्दी का बोधिसत्व मैत्रेय का चित्र।





मांगनांग बौद्ध विहार (पश्चिम तिब्बत) से प्राप्त लगभग दसवीं-ग्यारहवीं शती की कश्मीर शैली का गन्धर्वों का चित्र।

अन्य किसी भी प्रान्तीय शैली में नहीं है। कश्मीर में प्राचीन चित्रों के अवशेषों के अभाव में चित्र-कला के प्रारूप को समझने के लिए तत्कालीन मूर्ति-कला में निरूपित प्रतिमानों को उस युग की चित्र-कला का मानक माना जा सकता है।

कश्मीरी चित्र-कला के पुरातात्विक अवशेष लद्दाख के गिलगित नामक स्थान से प्राप्त होते हैं। यह चित्र दो हस्तलिखित पुस्तकों के काष्ठ आवरण पर अंकित हैं। इन चित्रों का सर्वप्रथम अध्ययन कलाविद् श्री पी० बनर्जी ने प्रस्तुत किया। उनके अनुसार ये चित्र कश्मीरी शैली के हैं, जिनका काल निर्धारण नवीं शताब्दी किया गया है।[1] यदि इन चित्रों का सूक्ष्म रूप से शैलीगत् अध्ययन किया जाय तो इनकी शैली कालक्रम की दृष्टि से सातवीं-आठवीं शताब्दी की प्रतीत होती है।[2] मुख्य रूप से गिलगित से प्राप्त बोधिसत्व पद्मपाणि के चित्र का फ़न्दुकिस्तान से प्राप्त सातवीं शताब्दी के बोधिसत्व के चित्र से तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह एक दूसरे के अत्यधिक निकट जान पड़ते हैं। इनके शारीरिक अंगों विशेषकर मुख एवं वक्ष के अंकन में शैलीगत् साम्य दृष्टिगोचर होता है।

फ़न्दुकिस्तान एवं बामियान के चित्रों की भाँति गिलगित से प्राप्त कश्मीरी चित्रों पर स्थानीय तत्वों के साथ गुप्तकला तथा गान्धार कला के अन्तिम चरण का मिश्रित प्रभाव दीखता है; किन्तु शैलीगत् आधार पर गिलगित से प्राप्त चित्र बामियान तथा फ़न्दुकिस्तान के चित्रों के लगभग एक शताब्दी बाद के प्रतीत होते हैं। शैली की दृष्टि से गिलगित से प्राप्त बोधिसत्व पद्मपाणि का चित्र कश्मीर के पाण्ड्रेथान से प्राप्त अवलोकतेश्वर की प्रस्तर-प्रतिमा[3] से अधिक साम्य रखता है, जिसका काल ७३० ई० है। गिलगित से प्राप्त अवशेषों के बाद कश्मीरी चित्र शैली के महत्वपूर्ण उदाहरण पश्चिमी तिब्बत के गुगे प्रान्त स्थित माँगनांग बौद्ध-विहारों की दीवारों पर प्राप्त होते हैं। इन भित्तिचित्रों की खोज इतालवी विद्वान् प्रो० गुसेप तुची ने की। शैलीगत् अध्ययन के आधार पर माँगनांग से प्राप्त चित्रों का कालक्रम दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी निर्धारित किया गया है[4] तथा इन्हें गिलगित से प्राप्त कश्मीरी शैली के चित्रों की अगली कड़ी कहा गया है[5] प्रो० तुची के अनुसार माँगनांग के चित्र दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के कश्मीरी शैली के चित्रों के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। माँगनांग के चित्रों के समकक्ष अन्य उदाहरण पश्चिमी तिब्बत के दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में निर्मित अनेक बौद्ध-विहारों में प्राप्त होते हैं। पश्चिमी तिब्बत के दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के अधिकांश बौद्ध-विहारों के निर्माण का श्रेय वहाँ के प्रसिद्ध अनुवादक लामा रिंचन सांगपो (९५८-१०५५ ई०) को है। तिब्बती ऐतिहासिक ग्रन्थों के अनुसार यह समय पश्चिमी तिब्बत में बौद्ध-धर्म का पुनर्जागरण काल था। बौद्ध-धर्म की पुनर्स्थापना हेतु पश्चिमी तिब्बत के राजा ये-शे-ओद ने रिंचन सांगपो को बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने के लिए पड़ौसी राज्य कश्मीर भेजा। कारण, इस काल तक पश्चिमोत्तर भारत में कश्मीर ही बौद्ध-धर्म व दर्शन का एकमात्र प्रमुख केन्द्र था। तिब्बती ग्रन्थों के अनुसार रिंचन सांगपो वापसी में कश्मीर के बत्तीस कुशल एवं दक्ष कलाकारों के दल को अपने साथ पश्चिमी तिब्बत में बौद्ध-विहारों व मन्दिरों के निर्माण

1. Banerjee, P. 'Painted Book Covers of Two Gilgit Manuscripts', Oriental Art, NS. 14, 1968, pp. 114-118.
2. Williams, Joanna, 'Iconography of khotanese painting', East and West, Vol. 23, Nos. 1-2, 1963, p. 109.
3. Goetz, H, 'Op-cit'. fig. 1.
4. Tucci, G, 'Indian Paintings in Western Tibetan Temple', Artibus Asiae, Vol. 8, 1937, p. 130.
5. Banerjee, p., 'Op-cit', p. 118.

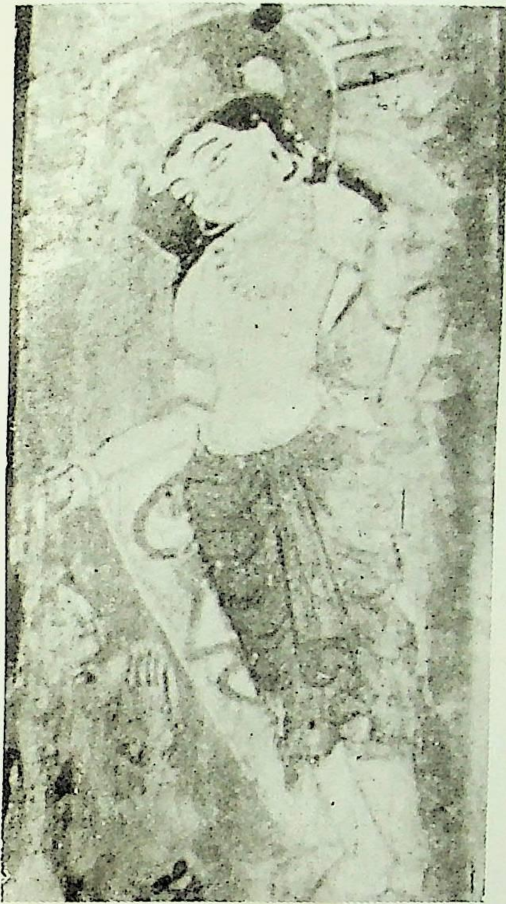
व अलंकरण हेतु ले गया। इस दल में चित्र तथा मूर्तिकला के कुशल शिल्पी भी थे, जिन्होंने अपने युग की कश्मीरी शैली की उत्कृष्ट कृतियों से विहारों एवं मन्दिरों को अलंकृत किया।[1] संयोग से रिंचन सांगपो के द्वारा नियुक्त शिल्पियों में एक मूर्ति-शिल्पी का नाम भितक प्राप्त होता है जिसे उसने अपने पिता की कांस्य-प्रतिमा गढ़ने के लिए नियुक्त किया था।[2]

इन सन्दर्भों के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कश्मीर की अपनी एक विशिष्ट चित्र-शैली थी, जिसने दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में अपने पड़ौसी प्रदेश पश्चिमी तिब्बत में कला का बीजारोपण किया।[3] पश्चिमी तिब्बत के भारतीय भू-भाग में स्थित आलची, माँग्यू, सुमदा (लद्दाख), ताबो, ल्हालुंग (स्पिति), नाको तथा रंगरिकछै (किन्नौर) के बौद्ध-विहारों से माँगनांग के समकालीन उदाहरण प्राप्त हैं। इन विहारों का निर्माण रिंचन सांगपो ने कश्मीरी कलाकारों की सहायता से किया था। पश्चिमी तिब्बत से प्राप्त भितिचित्रों के अवशेष वस्तुतः लघुचित्र हैं, जिन्हें कौशलपूर्ण ढंग से दीवारों पर अंकित किया गया है। चित्रों की विषयवस्तु मुख्यतः बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित तथा देवी-देवताओं के अंकन अथवा साधारण जनजीवन से ली गयी है।

उपर्युक्त कश्मीरी शैली के चित्रों पर सुदूर अजन्ता की कला का भी हल्का सा प्रभाव दृष्टिगत् होता है। चित्रों में भारतीय प्रतिमानों को पहले से सक्रिय मध्य एशियाई व स्थानीय कला तत्वों के साथ नये कलेवर में प्रस्तुत किया गया है। चित्रों की शैलीगत् विशेषता रंगों के माध्यम से आयतन का भ्रम उत्पन्न करना तथा छाया और प्रकाश का सुन्दर समन्वय है। चित्रकारों ने नारी-चित्रण में भारतीय प्रतिमानों का कुशल प्रयोग किया है। माँगनांग, आलची, ताबो आदि के नारी चित्र अजन्ता की अप्सराओं जैसे कलापूर्ण व मोहक हैं। चित्रों में शरीर के अंगों को पूर्ण विकसित तथा आनुपातिक रूप में अंकित किया गया है। नारी-चित्रों के अंकन में उन्हें अर्द्धपारदर्शी परिधानों में चित्रित किया गया है, जिनमें शारीरिक सौष्ठव पूर्ण रूप से परिलक्षित होता है। वस्त्रों एवं अलंकरण के अंकन में स्वाभाविकता का विशेष ध्यान रखा गया है। गान्धार-शैली की भाँति इन चित्रों में मानव मुखाकृति अण्डाकार है, जिसमें भरे हुए कपोल, उभरी हुई चिबुक, अर्द्धचन्द्राकार भृकुटियाँ तथा नुकीली नासिका अंकित की गयी है; किन्तु आँखों तथा अधरों के अंकन में कश्मीरी शैली की अपनी विशिष्टता है। चित्रों में आँखों को बादाम के आकार का तथा अधरों को छोटे आकार का अंकित किया गया है। शैलीगत् प्रमुख विशेषता चित्रों के उदर भाग के अंकन में दृष्टिगत् होती है, जिसमें माँसपेशियों को कसा हुआ दिखाया गया है, जो उदर को चार भागों में बाँटती है; साथ ही नाभि-प्रदेश को उभरा हुआ दिखाया गया है। इसी प्रकार का स्वाभाविक व कलात्मक अंकन तत्कालीन पाषाण व काँस्य मूर्तियों में मिलता है।[4] इन चित्रों की एक अन्य शैलीगत् विशेषता तीन-चौथाई मुखाकृति से एक आँख को बाहर निकलते हुए अंकित करना है। इस प्रकार के आँख के अंकन पश्चिमी भारत के तेरहवीं शताब्दी के बाद के चित्रों में बहुतायत से मिलते हैं, जिसे परली आँख (Farther Eye) कहा गया है।

दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के बौद्ध-विहारों से प्राप्त भित्तिचित्रों के ही समान लघु

1. Tucci, 'Tibetan Painted Scrolls', Rome, 1949, Vol. I, p. 272.
2. Tucci, G., 'The Ancient Civilization of Transhimalaya'; Geneva, 1973 p. 143.
3. Ibid. pp. 142-143.
4. Pal, p. 'Bronzes of Kashmir', New Delhi, 1974, plates-21 ff.



गिलगित से प्राप्त कश्मीरी हस्तलिखित पुस्तक के काष्ठ आवरण पर बोधिसत्व पद्मपाणि का चित्र, कालक्रम लगभग आठवीं शताब्दी ।



आलची बौद्ध विहार (लद्दाख) से प्राप्त कश्मीरी शैली में अंकित बोधिसत्व पद्मपाणि का भित्ति-चित्र, कालक्रम लगभग ग्यारहवीं शताब्दी ।



सुमदाच्छू विहार (जंसकार) से प्राप्त कश्मीरी शैली का भित्तिचित्र कालक्रम लगभग दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी ।

पोथी चित्र प्रो० तुची को गुगे स्थित थोलिंग विहार से प्राप्त हुए हैं।[1] इस पोथी का रचना-काल दसवीं शताब्दी अंकित है। अतः थोलिंग से प्राप्त चित्र दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की कश्मीरी चित्र शैली के ठोस प्रमाण हैं। पश्चिमी तिब्बत से प्राप्त चित्र कश्मीर की नवीं शताब्दी की कला-शैली के विकास के साक्ष्य हैं। इन चित्रों का अवन्ति वर्मा के युग की कला से घनिष्ठ सम्बन्ध है। रूसी विद्वान रोरिख के अनुसार नवीं शताब्दी की कश्मीरी कला-शैली को अवन्तिपुर शैली की संज्ञा देना उचित होगा तथा इसका प्रभाव दसवीं-ग्यारहवी शताब्दी की पश्चिमी तिब्बत की कला पर स्पष्ट है।[2]

कश्मीरी चित्र-कला का इतिहास अवशेषों के अभाव में संक्षिप्त होते हुए भी अपने विकास की विस्तृत पृष्ठभूमि पर आधारित है। यह परिकल्पना की जा सकती है कि ईसवीं सदी के आरम्भिक काल में कश्मीर की चित्र-कला-शैली समस्त वृहद् पश्चिमोत्तर भारत में प्रचलित शैली के समान या उसका अंग रही होगी अथवा इस सम्पूर्ण जनपद में जो भौगोलिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से एक था; एक ही कला-शैली प्रचलित थी और सम्भवतः यह विख्यात गान्धार शैली होगी, जिसे कुषाण शासकों के काल में राजकीय संरक्षण प्राप्त था। इस परि-कल्पना के समर्थन में कश्मीर के उष्कर तथा अखनूर से प्राप्त मृण्मूर्तियाँ एवं मध्यकालीन कश्मीरी मूर्तिकला पर परिलक्षित गान्धार प्रभाव उल्लेखनीय है। कश्मीरी मध्यकालीन कला का आरम्भ ललितादित्य के काल में हुआ तथा अवन्ति वर्मा (८५५-८८३ ई०) के राज्यकाल में यह अपने उत्कर्ष को प्राप्त हुई। इस संक्षिप्त काल में कश्मीर की कला-शैली का विकास तथा उत्कर्ष भारतीय कला-इतिहास में अनूठा व महत्वपूर्ण है। सीमान्त कला होने के कारण कश्मीरी कला में भारतीय तत्वों के साथ स्थानीय एवं विदेशी कला-तत्वों का अनोखा सम्मि-श्रण देखने को मिलता है। यह कला-शैली अपने विशिष्ट आयामों के साथ ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक कश्मीर में जीवित रही तथा पश्चिमी तिब्बत में बौद्ध-धर्म की पुनर्स्थापना के साथ वहाँ स्थानान्तरित हुई और बाद में पश्चिमी तिब्बत की कला-शैली का बीजारोपण किया। अपनी ही भूमि कश्मीर में लुप्त कश्मीरी शैली के चित्र विधर्मी हमलावरों तथा विषम जलवायु से सुरक्षित हिमालय की सुदूर और दुर्गम घाटियों में आज भी जीवित हैं। कश्मीरी चित्रों के अवशेषों का दुर्गम हिमालय की घाटियों में मिलना, कश्मीर की चित्र-शैली के प्रसार तथा उत्कृष्टता का दस्तावेज़ है। यद्यपि जो कुछ अवशेष प्राप्त होते हैं, वे उस सम्पन्न चित्र-शैली की विकास श्रृंखला की कुछ अन्तिम कड़ियाँ मात्र हैं।

• • •

1. Tucci, G. 'Tibetan Painted Scrolls', Rome, 1949, Vol. I, pp. 272-273.
2. Roerich, G. 'Tibet', Marg Vol. IX, No. 2, 1966 p. 109.

प्रेमचन्द—साहित्य में प्रकृति

डा० पी० वी० विजयन
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कोचीन विश्वविद्यालय (केरल)

*

प्रेमचन्द द्वारा चित्रित प्रकृति उनके समीक्षकों से उपेक्षित वस्तु है। इस उपेक्षा का मुख्य कारण यह है कि प्रेमचन्द का प्रमुख प्रतिपाद्य प्रकृति नहीं, मनुष्य है। उनके साहित्य में मनुष्य की तलाश है, प्रकृति की आराधना या अन्वेषण नहीं। इसीलिये हिन्दी के आलोचकों ने जब धरती पुत्रों के कटु तिक्त जीवनानुभवों के समर्थ कथाकार प्रेमचन्द के कृतित्व को कई कोणों से देखने-परखने का प्रयत्न किया तो उन्होंने कहीं भी प्रेमचन्द-साहित्य में वर्णित प्रकृति की ओर दृष्टिपात करने की आवश्यकता नहीं समझी। आज, क्योंकि प्रेमचन्द के कृतित्व की प्रमुख विशेषताओं के विश्लेषण और मूल्यांकन का काम बहुत कुछ हो चुका है, उनके कृतित्व के अब तक अनदेखे गौण पक्षों का अध्ययन उचित ही नहीं, आवश्यक भी है। प्रेमचन्द के सृजनात्मक कृतित्व को समग्रता से समझने के लिए इस प्रकार का अध्ययन उपादेय रहेगा। अतएव मैं प्रस्तुत निबन्ध में प्रेमचन्द-साहित्य के एक अछूते पक्ष पर प्रकाश डालने का विनम्र प्रयास करूँगा।

मानव-जीवन के यथार्थ कथाकार के नाते प्रेमचन्द ने मानव-जीवन से सम्पृक्त संवेदनशील प्रकृति की ओर भी दृष्टिपात किया है। उनके कथा-साहित्य में प्रकृति के अनेक वैविध्यमय चित्र लक्षित होते हैं। उनके सूक्ष्म प्रकृति पर्यवेक्षण का परिचय देने वाले रम्य, कोमल और रुद्र, प्रचण्ड प्राकृतिक दृश्य-बिम्ब उनके साहित्य में बिखरे पड़े हैं। ऐसे प्राकृतिक दृश्य-बिम्ब प्रेमचन्द के सौन्दर्य प्रेमी अन्तर्कवि की ओर इशारा करते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रेमचन्द में प्रकृति के प्रति लगाव था। किन्तु उनका प्रकृति-प्रेम, प्रकृति-सुषमा को देखकर मनुष्य को विस्मृत करने वाले कल्पनाशील छायावादी कवि का प्रकृति-प्रेम नहीं था। उन्होंने कहीं भी प्राकृतिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर मनुष्य को विस्मृत नहीं किया, बल्कि मानव-जीवन से सम्पृक्त संवेदनशील प्रकृति के नाना रूपों का पर्यवेक्षण किया है। सदैव उनका मुख्य कथ्य मनुष्य रहा है, प्रकृति नहीं है। लेकिन मानव-कथा के आख्यान में उन्होंने यथासंभव प्रकृति का भी उपयोग किया है।

प्रेमचन्द का जन्म बनारस के निकटवर्ती "लमही" गाँव में हुआ था। स्वभावतः महानगरीय परिवेश में पले व्यक्ति की अपेक्षा ग्रामीण परिवेश में पला व्यक्ति प्रकृति के प्रति अधिक हार्दिक निकटता महसूस करता है। गाँव में जन्मे प्रेमचन्द को गाँव के चारों तरफ

फैले विविध प्राकृतिक दृश्यों को देखने का अवसर मिला था। उन्होंने आत्मकथा में प्राकृतिक बिम्बों में अपने जीवन का परिचय यों दिया है—"मेरा जीवन सपाट समतल मैदान है जिसमें कहीं गढ़े तो हैं, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खण्डहरों का स्थान नहीं है।" मेरी अपनी धारणा है कि अपने जीवन को प्राकृतिक बिम्बों के माध्यम से व्यक्त करने के इस प्रयत्न में भी प्रेमचन्द का, प्रकृति के प्रति लगाव लक्षित होता है।

प्रेमचन्द के प्रकृति-चित्रों के मूल में दो विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं। (१) देशप्रेम, (२) सौन्दर्य-बोध।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रकृति प्रेम के उद्रेक का एक कारण राष्ट्रीय आन्दोलन के सहचर रूप में जन-मानस में भारत की प्रकृति के प्रति उद्भूत आकर्षण है। देशप्रेम के अंग के रूप में भारत की प्राकृतिक सुषमा के प्रति जन-मन में स्वाभाविक अनुरक्ति स्फुरित हुई। लहलहाते खेतों हरिताभ वनस्पतियों, जंगलों, चट्टानों, पर्वतों और नदियों के प्रति अनुराग देशप्रेम के अन्तर्गत आता है। देश भर के साहित्यकारों ने इस रूप में भी देशप्रेम की अभिव्यक्ति की है। देशप्रेम का प्रस्तुत रूप प्रेमचन्द में भी दिखाई देता है। उन्होंने अपनी धरती को प्यार किया है। अपने देश के पर्वतों और नदियों के सौन्दर्य का उन्होंने विविध प्रसंगों में अंकन किया है। कहीं कथाकार के रूप में कथा की पृष्ठभूमि के चित्रण के प्रसंग में उन्होंने प्रकृति का वर्णन किया है, कहीं कुछ पात्रों के माध्यम से नानारूपात्मक प्रकृति के खण्डचित्र रेखांकित किये हैं। देश के पर्वतों और नदियों के प्रति अपना प्रेम प्रेमचन्द ने कई स्थानों में प्रकट किया है। मुझे लगता है कि "रंगभूमि" की सोफिया के निम्नलिखित शब्दों में प्रेमचन्द का ही हृदय बोलता है—"मुझे तो पहाड़ी देशों से विशेष प्रेम है। पहाड़ों के दामन में बसे हुए गाँव, पहाड़ों की गोद में चरने वाली भेड़ें और पहाड़ों से गिरने वाले जल-प्रपात, ये सभी दृश्य मुझे काव्यमय प्रतीत होते हैं। मुझे मालूम होता है, वह कोई दूसरा ही जगत है, इससे कहीं शांतिमय और शुभ्र। शैल मेरे लिये एक मधुर स्वप्न हैं।"[१]

"कर्मभूमि" का निम्नांकित प्रकृति-चित्र पहाड़ और नदी के प्रति प्रेमचन्द के सहज अनुराग को व्यंजित करता है। "उत्तर की पर्वत श्रेणियों के बीच एक छोटा-सा रमणीक पहाड़ी गाँव है। सामने गंगा किसी बालिका की भाँति हँसती-उछलती, नाचती-गाती दौड़ती चली जाती है। पीछे ऊँचा पहाड़ किसी वृद्ध योगी की भाँति जटा बढ़ाए, श्याम गंभीर, विचारमग्न खड़ा है।"[२] स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने पर्वत और नदी को जड़ रूप में नहीं चेतन रूप में चित्रित किया है।

विंध्याचल के वर्णन के साथ प्रेमचन्द ने "वरदान" उपन्यास शुरू किया है। "विंध्याचल पर्वत मध्यरात्रि के निबिड अंधकार में कालदेव की भाँति खड़ा है। उस पर उगे हुए छोटे-छोटे वृक्ष इस प्रकार दृष्टिगोचर होते थे मानों उसकी जटाएँ हैं और अष्टाभुज देवी का मन्दिर, जिसके कलश पर श्वेत पताकाएँ वायु की मन्द-मन्द तरंगों से लहरा रही थीं, उस देव का मस्तक है।"[३] विदित है कि पर्वत में अलौकिक सौन्दर्य देखने की प्रकृति प्रेमचन्द में विद्यमान है।

गंगा भारत की पुण्य नदी है। उसने इस देश को हरित-भरित करने में अपना योग

१. रंगभूमि १९२५, पृ० २७७।
२. कर्मभूमि १९६२, चतुर्थ संस्करण, पृ० १४१।
३. वरदान १९७५, पृ० ५।

दिया है। इसी कारण भारतीय जनता में उसके प्रति बड़ी श्रद्धा-भक्ति वर्तमान है। प्रेमचन्द की कृतियों के अध्ययन से लगता है कि उनके मन में गंगा के प्रति लगाव रहा है। उन्होंने गंगा के कोमल और कठोर दोनों रूपों का मनोयोग से वर्णन किया है। यहाँ पर "गबन" में वर्णित प्रयाग की गंगा का सुन्दर रूप स्मरणीय है। "नीचे स्वर्णमयी गंगा, लाल, काले, नीले आवरण में चमकती हुई, मन्द स्वरों में गाती, कहीं लपकती, कहीं झिझकती, कहीं चपल, कहीं गंभीर अनन्त अंधकार की ओर चली जा रही है मानो बहुरंजित बालस्मृति, क्रीडा और विनोद की गोद में खेलती हुई, चिन्तामय, संघर्षमय, अन्धकारमय भविष्य की ओर चली जा रही हो।"[1] इसी उपन्यास में वर्षा और बाढ़ के दिनों में उमड़ी गंगा का रुद्र रूप निम्न-लिखित शब्दों में द्रष्टव्य है। "वह कृशांगी गंगा इतनी विशाल हो सकती है, इसका वह (जोहरा) अनुभव भी न कर सकती थी। लहरें उन्मत्त होकर गरजती, मुँह से फेन निकालती, हाथों उच्छल रही थीं, चतुर फिकैती की तरह पैंतरे बदल रही थीं, कभी एक दम आगे जाती, फिर पीछे लौट पड़ती और चक्कर खा फिर आगे को लपकती।"[2]

प्रेमचन्द के प्रकृति-प्रेम का प्रसार पर्वतों, नदियों तक सीमित नहीं है। उनका प्रकृति प्रेम पशु-पक्षी द्रुमलतादि प्रकृति की अन्याय वस्तुओं तक व्याप्त है। "शिकारी राजकुमार" शीर्षक कहानी का यह वर्णन उल्लेखनीय है। "वहीं कदम्बकुंज की घनी छाया में जहाँ सर्वदा मृगों की सभा सुशोभित रहती, नदी की तरंगों का मधुर स्वर सर्वदा सुनायी दिया करता है, जहाँ हरियाली पर मयूर थिरकता, कपोतादि पक्षी मस्त होकर झूमते, लता द्रुमादि से सुशोभित संन्यासी की एक छोटी-सी कुटी थी।"[3]

उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि प्रेमचन्द ने अपनी कृतियों में प्रसंगानुसार भारत की विराट प्राकृतिक सुषमा का रेखांकन किया है। यहाँ के जंगल, पहाड़, नदियाँ, पशु-पक्षी और द्रुमलताओं का उन्होंने सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया है। उनका यह प्रकृति-प्रेम उनके देशप्रेम का ही अंग लगता है।

प्रेमचन्द के कल्पनाशील अर्न्तकवि की ओर इंगित करने वाले प्रकृति-चित्र उनके उपन्यासों और कहानियों में उपलब्ध हैं। प्रकृति के उन दृश्य-बिम्बों से उनकी प्रकृति-पर्यवेक्षण की क्षमता, कल्पना-शक्ति और उदात्त सौन्दर्यबोध का पता चलता है। प्रेमचन्द की सृजनात्मक समृद्धि का काल छायावाद का उत्कर्ष काल है। प्रेमचन्द छायावादी कविता के प्रशंसक नहीं थे। छायावाद की अतीतोन्मुखी दृष्टि प्रेमचन्द की समाजोन्मुख यथार्थवादी दृष्टि के अनुकूल नहीं थी। फिर भी वे छायावादी कवियों के प्रकृति-प्रेम और अभिव्यक्ति भंगिमा के विरुद्ध थे, ऐसा नहीं लगता। इतना ही नहीं, प्रेमचन्द-साहित्य में अभिव्यंजित प्रकृति-सौन्दर्य और उस प्रकृति-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये प्रेमचन्द से अपनायी लाक्षणिक अभिव्यक्ति-पद्धति इन दोनों की ओर दृष्टिपात करने पर मुझे ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द छायावादी कविता से एकदम अप्रभावित नहीं थे। आगे मैं कुछ उदाहरणों के द्वारा यह सिद्ध करूँगा कि प्रेमचन्द ने छायावादी कवियों के समान प्रकृति के कतिपय दृश्य-बिम्बों का कलात्मक अंकन किया है।

मानवीकरण छायावादी कविता की मोहक विशेषता है। प्रकृति में मानवीय व्यापार

१. गबन १९७५, पृ० ३२४।
२. वही, पृ० ३२८।
३. मानसरोवर १९६२, भाग ८, पृ० ५७।

का आरोप मानवीकरण है। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में कहीं-कहीं प्रकृति का मानवीकरण किया है। "सेवासदन" की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकृति का मानवीकरण हुआ है। "मन्दवायु गंगा की लहरों पर क्रीडा कर रही है, उन्हें गुदगुदा रही है। वह अपने करुण नेत्रों से मुस्कराती और कभी खिलखिलाकर हँस पड़ती है, तब उसके मोती से दाँत चमक उठते हैं।"[१] सदन के झोंपड़े में नवजात पुत्र की छठी का उत्सव मनाया जाता है। प्रस्तुत प्रसंग की पृष्ठभूमि में प्रकृति का उपर्युक्त मानवीकृत चित्र अंकित है। प्रकृति के अत्यन्त सुन्दर मानवीकरण के लिये गोदान का निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है। "नदी के किनारे चाँदी का फर्श बिछा हुआ था और नदी रत्न-जटित आभूषण पहने, मीठे स्वरों में गाती, चांद को और तारों को और सिर झुकाए नीन्द माते वृक्षों को अपना नृत्य दिखा रही थी।"[२]

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने छायावादी कवियों के समान नदी का मानवीकरण किया है।

प्रेमचन्द-साहित्य में अंकित प्रकृति-चित्र कहीं भी मूल संवेदना से असम्पृक्त नहीं हैं। वे कथा की गति या पात्र की मनोदशा से जुड़े हुए हैं। "घरजमाई" कहानी का प्रकृति-वर्णन उदाहरण के लिये स्मरणीय है। प्रस्तुत कहानी में प्रेमचन्द ने तारों का मानवीकरण किया है। उन्होंने तारों को बालकों के रूप में कल्पित किया है। यथा—"रात भीग चुकी थी। अनन्त आकाश में तारे बालकों की भाँति क्रीडा कर रहे थे। कोई नाचता था, कोई उछलता था, कोई हँसता था, कोई आँखें मींचकर फिर खोल देता था। रह-रह कर कोई साहसी बालक सपाटा भरकर एक पल में उस विस्तृत क्षेत्र को पार कर लेता था और न जाने कहाँ छा जाता था।"[३] कहानी का नायक हरिधन ससुराल के उपेक्षा भरे व्यवहार से खिन्न होकर रात में कुए के पास जाकर लेटता है और आसमान की ओर देखता है। आकाश में बालकों की भाँति क्रीडारत नक्षत्रों को देखकर उसके मन में बचपन की स्मृतियाँ जागती हैं। उसकी मनोदशा के बदलाव में बचपन की स्मृतियाँ प्रेरक बन जाती हैं। यहाँ कहानीकार ने नक्षत्रों के मानवीकरण द्वारा बचपन की स्मृतियाँ जगाकर पात्र की मनोदशा को बदलने का उपक्रम किया है। प्रेमचन्द ने प्रसंगानुसार प्राकृतिक बिम्बों का विधान किया है। उनके कुछ दृश्य-बिम्ब भावी घटना की ओर इशारा करने में सक्षम हैं तो कुछ मनुष्य और प्रकृति में सामंजस्य उपस्थित करने में समर्थ हैं। "माँ" कहानी का प्रस्तुत दृश्य-बिम्ब देखिए—"गगन-पथ का चिरगामी पथिक लपकता हुआ विश्राम की ओर चला जाता था जहाँ सन्ध्या ने सुनहरा फर्श सजाया था और उज्ज्वल पुष्पों की सेज बिछा रखी थी।"[४] आदित्य और उसकी पत्नी करुणा के मिलन के नाटकीय प्रसंग में प्रस्तुत दृश्यांकन हुआ है। आदित्य ने देश के लिये कारावास भोगा था। वह जेल से छूट कर आ रहा है। उसकी पत्नी करुणा प्रिय के प्रगाढ़ आलिंगन के लिए विह्वल उसकी प्रतीक्षा में खड़ी है। इस प्रसंग के उपयुक्त ही यहाँ प्रेमचन्द ने प्रकृति का चित्रण किया है।

प्रेमचन्द ने कई स्थानों में बड़ी कुशलता के साथ मनुष्य की विशेष स्थिति और मनोदशा के साथ सामंजस्य करते हुए प्रकृति का वर्णन किया है। "सती" कहानी में संग्राम-भूमि से पराजित रतू सिह अपनी पत्नी से मिलने आता है। कहानीकार ने उस समय की प्रकृति

१. सेवासदन १९७५, पृ० २२५।
२. गोदान १९७५, पृ० २९५।
३. मानसरोवर भाग १, पृ० १५२।
४. वही, पृ० ५१।

का यों चित्रांकन किया है। "संध्या हो गयी। सूर्य भगवान किसी हारे हुए सिपाही की भाँति मस्तक झुकाए कोइ आड़ खोज रहे थे।"[१]

"घासवाली" कहानी में प्रेमचन्द ने उद्दीपक प्रकृति का वर्णन किया है। घास छीलने वाली तरुणी मुलिया के रूप-सौन्दर्य पर मोहित पागल प्रेमी चैन सिंह भावावेग में उसका हाथ पकड़ लेता है। प्रस्तुत घटना के उल्लेख के पहले प्रेमचन्द ने उद्दीपक प्रकृति की ओर दृष्टिपात किया है। "प्रभात का समय था, पवन आम के बौरों की सुगन्धि से मतवाला हो रहा था। आकाश पृथ्वी पर सोने की वर्षा कर रहा था।"[२] विदित है, यह मोहक प्रकृति चैन सिंह को बेचैन करने में सहायक बनती है।

प्रेमचन्द ने छायावादी कवियों से प्रयुक्त प्रकृति-चित्रण की विविध शैलियों को अपनाया है। कहीं उन्होंने प्रकृति का प्रतीकात्मक प्रयोग किया है तो कहीं अलंकार रूप में प्रकृति को ग्रहण किया है। कहीं उपदेश देने के विचार से या गहन जीवनानुभव की अभिव्यक्ति के लिये प्रकृति का उपयोग किया है। "सेवासदन" में अपनी बहन शान्ता की दारुण दशा देख कर क्षुब्ध सुमन सदन से कहती है। "तुम्हारे ही निर्दय हाथों ने इस फूल को यों मसला है, तुमने अपने पैरों से इस पौधे को यों कुचला है।"[३] यहाँ फूल और पौधा शान्ता के लिये प्रयुक्त प्रतीकात्मक शब्द हैं। "धोखा" कहानी में भी प्रेमचन्द ने व्यक्ति के चेहरे में बिम्बित भाव की व्यंजना के लिये प्राकृतिक प्रतीकों का विधान किया है। अन्तःपुर में राजकुमारी प्रभा से मिलने उसका पति राजकुमार हरिश्चन्द्र पहुँचता है। वहाँ पर शोकमग्न बैठी राजकुमारी का चित्र प्रेमचन्द ने इस प्रकार खींचा है। "उसकी आँखों से आँसू की नदी बह रही थी। पति ने प्रेम के मद में मस्त होकर घूंघट हटा दिया, दीपक था, पर बुझा हुआ, फूल था, पर मुरझाया हुआ।"[४] यहाँ अवसन्न राजकुमारी के सुन्दर मुख की कांतिहीनता की ओर संकेत करते हुए कवि हृदय रखने वाले कहानीकार ने बुझे हुए दीपक, मुरझाये हुए फूल जैसे प्राकृतिक प्रतीकों को प्रस्तुत किया है।

मानव-सौन्दर्य के अंकन में कवियों ने प्रकृति के उपकरणों को अपनाया है। मानव के रूप-सौन्दर्य के चित्रण में प्रकृति का सर्वाधिक प्रयोग छायावादी कवियों ने किया है। प्रेमचन्द ने भी मानव सौन्दर्य के वर्णन में प्रकृति का उपयोग किया है। उन्होंने नारी के रूपांकन में ही नहीं, पुरुष के सौन्दर्य-चित्रण में भी प्राकृतिक वस्तुओं से सहारा लिया है। "लैला" कहानी में उन्होंने लैला का सौन्दर्य प्रकृति के माध्यम से यों व्यंजित किया है। "लैला के रूप-लालित्य की कल्पना करनी हो तो ऊषा की प्रफुल्ल लालिमा की कल्पना कीजिए, जब नील गगन स्वर्ण प्रकाश से रंजित हो जाता है, बहार की कल्पना कीजिए जब बाग में रंग-रंग के फूल खिलते हैं और बुलबुलें गाती हैं।"[५] "सेवासदन" में सदन के सौन्दर्य को रेखांकित करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है, "वह बाग का कलमी पौधा नहीं, वन का सुदृढ़ वृक्ष था।"[६] सदन के वीरता से दीप्त पौरुषमय व्यक्तित्व को रूपांकित करने के लिए उपन्यासकार ने उसे वन के सुदृढ़ वृक्ष के रूप में कल्पित किया। दो व्यक्तित्वों का असमानता दिखाने

१. प्रेमपचीसी १९६४, पृ० ८१।
२. मानसरोवर, भाग १, पृ० २६६।
३. सेवासदन, पृ० २१३।
४. मानसरोवर भाग ६, पृ० १९७।
५. मानसरोवर, भाग ३, पृ० १५४।
६. सेवासदन, पृ० ५६।

के लिये भी प्रेमचन्द ने प्राकृतिक वस्तुओं का उपयोग किया है। "डिक्री के रुपये" कहानी में वे नईम और कैलास के अन्तर को इस प्रकार प्रकट किया है "नईम दीर्घकाय विशाल वृक्ष था, कैलास बाग का कोमल पौधा।"[१]

प्राकृतिक वस्तुओं को उपमान के रूप में भी प्रेमचन्द ने कहीं-कहीं प्रयुक्त किया है। उदाहरणार्थ "यह अनुपम सौन्दर्य सुधा की भाँति पवित्र, हिम के समान निष्कलंक और नव-कुसुम की भाँति अनिंद्य था।"[२] प्रकृति के चित्रण में कहीं-कहीं उन्होंने मूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमान का प्रयोग किया है। उदाहरण प्रस्तुत हैं, "सामने की पर्वतमाला दर्शन-तत्व की भाँति अगम्य और अत्यन्त फैली हुई मानों ज्ञान का विस्तार कर रही हो, मानों आत्मा उस ज्ञान को, उस प्रकाश को, उस असम्यता को, उसके प्रत्यक्ष विराट रूप में देख रही हो।"[३] इस प्रकार की उपचार वक्रता के एकाध उदाहरण प्रेमचन्द-साहित्य में उपलब्ध हैं।

प्रेमचन्द ने मानव-प्रकृति के साथ-साथ मानवेतर प्रकृति का भी सूक्ष्म निरीक्षण किया था। उन्होंने शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा इत्यादि विभिन्न ऋतुओं का वर्णन किया है। उनके ऋतु वर्णन के उदाहरण के रूप में ग्रीष्म का वह वर्णन देखिए जिसमें विभिन्न दृश्य-बिम्बों के साथ-साथ उपचार-वक्रता का भी सौन्दर्य लक्षित होता है। "गर्मी का आरंभ हुआ। प्रातः-काल समीर के झोंके, दोपहर की लू जलती हुई लपट। डालियाँ फलों से लदी। फिर वह समय आया जब दिन को न सुख था, न रात को नींद। दिन तड़पता था, रात जलती थी, नदियाँ बधिकों के हृदयों की भाँति सूख गयीं। वन के पशु मध्याह्न की धूप में प्यास के कारण जिह्वा निकाले पानी की खोज में इधर-उधर दौड़ते फिरते थे।"[४]

प्रेमचन्द-साहित्य में विभिन्न पहरों के मनोरम चित्र बहुत मिलते हैं। प्रेमचन्द ने प्रभात, मध्याह्न, सन्ध्या, अर्द्धरात्रि, रात्यन्त इत्यादि विभिन्न पहरों के सूक्ष्म सरल रेखाओं में कई दृश्य-बिम्ब अपने कथा साहित्य में सप्रसंग प्रस्तुत किये हैं। उनमें सन्ध्या के दृश्य-बिम्ब अपेक्षाकृत अधिक हैं। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि उनके साहित्य में सांध्य बिम्बों की अधिकता का क्या कारण है? निस्सन्देह सन्ध्या अत्यन्त नाटकीय जीवन-सन्दर्भ है। जीवन के प्रति यथार्थोन्मुख दृष्टि रखने वाले प्रेमचन्द ने यह दिखाने के लिए कि जीवन में प्रसन्नता के आह्लाद की अपेक्षा सन्ध्या के अवसाद की अधिकता है, सन्ध्या के चित्र अधिक खींचे हैं। यह निष्कर्ष मुझे संगत लगता है। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में प्रसंगानुसार सूर्य के विभिन्न समयों के बिम्ब वर्तमान हैं। प्रभात मध्याह्न और सन्ध्या के सूर्य-बिम्ब प्रेमचन्द ने अंकित किए हैं। निम्नलिखित वाक्य में सन्ध्या का सूर्य वर्णित है। "सन्ध्या का सूर्य आकाश के स्वर्णसागर में अपनी नौका खेता हुआ चला जा रहा था।"[५] मध्याह्न का सूर्य इस प्रकार चित्रित है "मध्याह्न था। सूर्य नारायण सिर पर आकर अग्नि की वर्षा कर रहे थे।"[६] प्रेमचन्द की कृतियों से गुज़रने पर लगता है कि उन्हें सूर्य जितना प्रिय था, उतना चाँद नहीं। चाँद की तुलना में उनके साहित्य में सूर्य का वर्णन अधिक है। प्रेमचन्द के तेजोद्दीप्त व्यक्तित्व के अनुकूल पड़ने वाला बिम्ब सूर्य का है चन्द्र का नहीं। अक्षय ऊर्जा और अदम्य ऊष्मा का

१. मानसरोवर भाग ३, पृ० २५४।
२. वही, पृ० १५६।
३. गोदान, पृ० ८०।
४. प्रेमपचीसी पृ० १६४।
५. मानसरोवर, भाग १, पृ० २५६।
६. नवनिधि १९६३, ३१।

प्रतीक सूर्य ही उन्हें मोहित करता था, सुकुमार शीतल चाँद नहीं। यह मानी हुई बात है कि कृती साहित्यकार के बिम्ब चयन में उनके व्यक्तित्व की झलक मिलती है।

प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य में अधिकतर प्रकृति-चित्रण में अलंकृत भाषा अपनायी है। प्रकृति-सौन्दर्य के रूपायन में उन्होंने लक्षणा और व्यंजना की अनेक विध घटाएँ बिखेरने वाले पद-बन्धों की रचना की है। कहीं उन्होंने लययुक्त भाषा का भी प्रयोग किया है। सच-मुच उनके सारे प्रकृति-चित्र उनके अन्तर्कवि की ओर संकेत करते हैं।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी कथा-साहित्य के युगपुरुष प्रेमचन्द ने अपनी कृतियों में प्रकृति की उपेक्षा नहीं की है। उन्होंने मानव की चिरसहचरी प्रकृति को यथासंभव अपने साहित्य में स्थान दिया है। उनके प्रकृति-चित्रण के मूल में उनका देशप्रेम ही नहीं, सौन्दर्य चेतना भी द्रष्टव्य है। उनके साहित्य में अंकित विविध प्राकृतिक दृश्य-बिम्बों के अध्यय से यह विदित होता है कि प्रेमचन्द अपनी समकालीन छायावादी कविता से बिल-कुल असम्पृक्त नहीं थे और उनके भीतर एक सौन्दर्य प्रेमी कवि विद्यमान थे।

• • •

रावण बध की प्रमाणिक तिथि

कल्पना कुमारी, एम० ए० संगीत तथा हिन्दी (प्रथम वर्षार्द्ध)

*

न मालूम कब से—समस्त भारतवर्ष में रामलीला का पर्व आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की नवमी तक मनाई जाती है और दशमी को रावण का पुतला जलाया जाता है—इस लिए सर्वसाधारण के मस्तिष्क में यही भ्रान्त धारणा व्याप्त हो चुकी है कि रावण विजया दशमी के दिन ही मारा गया था। पाठ्य पुस्तकों में भी ऐसा लिखा हुआ है, प्रमुख समाचार पत्र भी लकीर के फकीर बन गये हैं। वे भी विजया दशमी के अपने विशेषाङ्कों में यही बात लिखते हैं कि आज के दिन राम ने रावण को मारा था। इन सब की दशा ऐसी ही है कि अन्धे नैव नीयमाना यथान्धाः।

भ्रान्ति निवारणार्थ मैं संक्षेप से शूर्पणखा के श्रीराम के सन्निकट आने से रावण की मृत्यु पर्यन्त का सारभूत विवरण दे रही हूँ जिससे स्पष्ट विदित हो जाये कि श्रीराम की विजय तथा रावण की मृत्यु का विजय दशमी के साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है—

शूर्पणखा श्रीराम के पास कब आई

शरद ऋतु सुख पूर्वक व्यतीत हो चुकी थी—उसी शरद ऋतु में किसी दिन की प्रभात वेला में श्रीराम सीता और लक्ष्मण के साथ गोदावरी स्नान करने को गये।

—बा० रा० अरण्य काण्ड सर्ग १६, श्लोक १-२।

श्रीराम सीता और लक्ष्मण तीनों उस गोदावरी के तट से अपने आश्रम में लौट आये।

उस आश्रम में लक्ष्मण सहित श्रीराम ने नित्य कर्म किये—तत्पश्चात् अपनी कुटिया में आकर बैठ गये।

उसी समय एक राक्षसी वहाँ अचानक पहुँच गई। यह राक्षस रावण की बहिन शूर्पणखा थी और विवाह की इच्छा से श्रीराम के पास गई थी।

अपमानित होकर अपने भाइयों खर-दूषण के पास पहुँची—उनके सेना के सहित श्रीराम के द्वारा युद्ध में मारे जाने पर शूर्पणखा रावण के पास लंका में जाकर रोई।

—बा० रा० अरण्य काण्ड सर्ग १६, ३-६।

उपरोक्त श्लोकों से ज्ञात होता है कि वह समय हेमन्त ऋतु का था। हेमन्त ऋतु के महीने मार्गशीर्ष (अगहन और पौष) होते हैं।

समस्त प्रसंग के अनुशीलन से अवगत होता है कि उस समय जल अति शीतल था, पक्षी भी उसमें पांव नहीं डालते थे। कुहरा छाया हुआ था। पाला (तुषार) पड़ता था। कमल भी डण्ठल मात्र शेष रह गये थे।

इन सब प्रमाणों से अवगत होता है कि वह समय पौष मास के अन्त का था।

सीता हरण

घटित समस्त बातों पर विचार करने से अनुमान होता है कि इन सब झगड़ों में एक मास तो अवश्य ही व्यतीत हो गया होगा। अनुमान से सीता का हरण माघ मास के अन्त में हुआ होगा।

सीता हरण के सम्बन्ध में पुराणों की साक्षी

ततो माघ सिताष्टम्यां मुहूर्ते वृन्द संज्ञ के ॥२२॥
राघवाभ्यां विना सीतां जहार दश कन्धरः ॥२३॥

—स्कन्द पुराण ब्रह्म खण्ड ३, फ० माहात्म्य खण्ड २, अ० ५, श्लोक २२-२३।

वृन्द नामक मुहूर्त में माघ कृष्ण पक्ष की अष्टमी को राम और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में रावण सीता को हर कर ले गया।

ध्यान देने योग्य—बात यह है कि पुराणों में मास का अन्त अमावस्या को माना गया है पूर्णमासी को नहीं। इस गणना से कृष्णा पक्ष की अष्टमी आधे मास के पश्चात् हुई।

वालि बध—सुग्रीव का राज्याभिषेक कब हुआ ?

श्री राम ने प्रतिज्ञानुसार जब बालि को मार दिया तो सुग्रीव को राज्याभिषेक की आज्ञा दे दी। सुग्रीव को कहा—यह वर्षा का पहला श्रावण मास पानी लाने वाला है। हे सौम्य ! वर्षा के चार मास प्रारम्भ हो गये हैं यह उद्योग करने का (आक्रमण) समय नहीं है, तुम अब अपनी सुन्दर नगरी में जाओ। कार्तिक मास आ जाने पर रावण या सीता के अपहरण-कर्ता के मारने का यत्न करना। —बा० रा० कि० काण्ड सर्ग २७, १३-१६।

वर्षा के चार मास अषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन हैं। इनको चातुर्मास या चौमासा कहा जाता है। इनके व्यतीत हो जाने पर सीता की खोज करने का आदेश श्री राम ने सुग्रीव को दिया। "फिर आश्विन मास की दशमी को रावण का वध किसी प्रकार भी मानने योग्य नहीं है।"

सुग्रीव का राजतिलक हो जाने पर लक्ष्मण ने श्री राम से कहा—

शरत् कालं प्रतीक्षस्व प्रावृट कालोऽयमागतः।

—कि० काण्ड सर्ग ३७/३८

यह वर्षा काल आ गया है आप शरत् काल की प्रतीक्षा कीजिये इस पर राम जी ने कहा—

शरत् कालं प्रतीक्षिष्ये स्थितोऽस्मि वचने तव ॥

—कि० का० सं० ३७/४४

ऋतुएँ दो प्रकार से गिनी जाती हैं—एक प्रकार वर्ष में चार-चार मास की तीन ऋतुएँ गिनने का है, यथा चार मास सर्दी के चार मास वर्षा के और चार मास ग्रीष्म के गिने जाते हैं। तदनुसार ही यह कहा है—

प्रवृत्ताः सौम्य चत्वारो मासाः वार्षिक संज्ञकाः ।

—कि० का० स० २६/१४

हे सौम्य ! वर्षा के चार मास प्रारम्भ हो गये हैं दूसरे प्रकार में— वर्ष की छः ऋतुएँ दो-दो मास की गिनी जाती हैं ।

चैत्र—बैशाख—वसन्त १
ज्येष्ठ—आषाढ़—ग्रीष्म २
श्रावण—भाद्रपद—वर्षा ३
आश्विन—कार्तिक—शरद ४
मार्गशीर्ष—पौष—हेमन्त ५
माघ—फाल्गुन—शिशिर ६

इस प्रकार श्रावण को वर्षा का प्रथम मास कहा है । इस स्थल पर रामायण में दोनों प्रकार की गणना है । —वर्षा के चार मास व्यतीत हो गये

शरद ऋतु की रात्रि को देखकर श्री राम जी ने सुग्रीव को याद किया । शरद ऋतु के धवल आकाश को देखकर श्री राम को अपनी प्रिया की याद आने लगी ।

—कि० का० सं० ३०/२/५

हे लक्ष्मण ! वर्षा के चार मास सौ वर्ष के समान मुझ शोक से सन्तप्त को सीता को न देखते हुए बीत गये । मुझ स्त्री विहीन राज्यच्युत और घर से निर्वासित पर राजा सुग्रीव दया नहीं करता । —कि० का० सं० ३०/६२-६६

हे लक्ष्मण ! जिस मार्ग से मरकर बालि गया है वह मार्ग बन्द नहीं हुआ है । अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर हो । —बा० रा० कि० का० सर्ग ३०/७७-८२

गोस्वामी तुलसीदास की रामायण के अनुसार श्री राम लक्ष्मण से कहते हैं—

वर्षा विगत शरद ऋतु आई ।
सुधि न तात सीता की पाई ।।
सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी ।
पावा राज कोष पुर नारी ।।
जेहि सायक मारा मैं बाली ।
तेहि सर हतउं मूढ कहं काली ।।

हजार बार तुलसी कृत रामायण को पढ़ सुनकर भी लोग यह नहीं जान पाये कि आश्विन मास में भी श्री राम को यह पता नहीं था कि सीता कहाँ और किस अवस्था में है—पर राम लीलाओं में नाचने वालों ने रावण को भी मार दिया ।

कार्तिक मास के कतिपय दिवस व्यतीत हो जाने पर श्री राम जी ने दुःख और रोष के वाक्य कहकर श्री लक्ष्मण जी को सुग्रीव के पास भेजा और लक्ष्मण ने सुग्रीव व पत्नी तारा से कहा—

हे अपने पति के हित में लगी हुई तारा ! तुम्हारा पति कामासक्त हो गया उसने धर्म अर्थ के संग्रह को त्याग दिया हैं तुम उसको समझाती नहीं हो ।

उसने चार मास की प्रतीक्षा करने को कहा था—वे व्यतीत हो गये हैं । पर अभी तक उसने अपनी प्रतिज्ञा का ध्यान नहीं किया है ।

सुग्रीव तुरन्त लक्ष्मण के साथ श्री राम जी के पास चला गया और उसने अपनी सेना और सेनापतियों को बुलाकर आदेश दिया। -- कि० का० सर्ग ३३/४३-४४

एक मास के अन्दर सीता का पता लगाकर वापिस लौट आओ। जो एक मास के भीतर नहीं आयेगा वह मेरे हाथों मारा जायेगा। —कि० का० स० ४०/६८-७०

अंगद और अन्य वानरों का विलाप सुनकर जटायु का भाई सम्पाती उनके पास आया और उसने बताया कि सीता को रावण हरण करके ले गया है। वह लंका का राजा है। —कि० का० सं० ५५/१२-१७

जब हनुमान जी लंका में सीता की खोज कर रहे थे तब चाँदनी रात थी जैसा कि वाल्मीकि जी ने कहा है। —सुन्दर का० सर्ग ५/१-६

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि उस दिन या तो पूर्णमासी थी या पूर्णमासी के निकट का कोई दिन था।

एक मास की अवधि समाप्त होने ही वाली थी। सीता का पता चल नहीं रहा था तभी अंगद आदि अपने प्राण त्यागने को उद्यत हुए थे। सम्पाती के बताने पर हनुमान जी लंका में गये, तो सीधा समझ में आता है कि मार्गशीर्ष मास की पूर्णमासी या पूर्णमासी के निकट द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी तिथि ही हनुमान जी के लंका प्रवेश की हो सकती है।

यहाँ तक के प्रमाणों से यह तो स्पष्ट हुआ कि रावण आश्विन मास में नहीं मारा गया था कार्तिक, मार्गशीर्ष में भी नहीं मरा।

—स्कन्द पुराण ब्रह्म खण्ड ३ (धर्मारण्य खण्ड २) अध्याय ३० श्लोक ३६-३७

द्वादशी तिथि में शीशम के वृक्ष पर हनुमान जी छिप कर बैठ गये और उसी रात्रि में सीता जी को विश्वास कराने के लिए हनुमान जी ने राम जी का चरित्र वर्णन किया।

—स्कन्द पु० ब्रह्म खण्ड अध्याय ३०-२८, ३०-३१

एकादशी में हनुमान जी महेन्द्र पर्वत से चल कर समुद्र को पार करके लंका गये।

त्रयोदशी को अक्ष आदि राक्षसों से हनुमान जी का युद्ध हुआ। चतुर्दशी को मेघनाथ ने हनुमान जी को ब्रह्मास्त्र ब्रह्मपाश से बांधा।

यह सब मार्गशीर्ष मास में हुआ। रामायण से शुक्ल पक्ष की ये तिथियाँ सिद्ध होती हैं। —स्कन्द पुराण ब्रह्म खण्ड (धर्मारण्य खण्ड २) अध्याय ३०, श्लोक ३४

श्री राम जी की अंगूठी साथ लेकर हनुमान जी लंका को गये सीता हरण के दसवें मास में सम्पाती ने हनुमान जी को सीता का पता बताया था।

सीता जी ने हनुमान जी से कहा

सीता जी ने कहा कि हनुमान! तुम श्री राम जी से कह देना कि यहाँ आने में शीघ्रता करें, सीता को केवल एक वर्ष की अवधि मिली है, मेरा जीवन तभी तक है।

अब दसवाँ मास बीत रहा है, दो मास ही उस अवधि में अब शेष रह गये हैं जो अवधि मेरे लिए निर्दयी रावण ने दी है। —वा० रा० सुन्दर काण्ड सर्ग ३७/७-८

माघ कृष्णा पक्ष की अष्टमी को यदि सीता हरण माना जाये जैसा कि पहले स्कन्द पुराण और पद्म पुराण के प्रमाण से लिखा गया है और बालमीकि रामायण से भी ऐसा ही स्पष्ट होता है तो दसवाँ मास मार्गशीर्ष आता है।

हनुमान जी द्वारा श्री राम जी को कब सूचना दी

लंका से लौटकर हनुमान जी महेन्द्र पर्वत पर प्रतीक्षा कर रहे अंगद, जामवन्त आदि के पास जिस दिन आये पुराणों में वह दिन पूर्णमासी का बताया है यथा—

—स्कन्द पुराण ब्रह्म खण्ड (धर्मारण्य खण्ड २) अ० ३०/४०-४१

—पद्म पुराण पाताल खण्ड अ० ३६/३२-३४

इन श्लोकों का अर्थ है—मार्गशीर्ष मास की पूर्णमासी अर्थात् आधे मार्गशीर्ष के दिन दिनांक १५ को हनुमान जी महेन्द्र पर्वत पर अपने साथियों के पास आये। मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को वहाँ से चलकर पाँच दिन मार्ग में लगाते हुए षष्ठी को मधुवन में पहुँचे और मार्गशीर्ष मास के कृष्ण पक्ष अर्थात् मास के अन्तिम पक्ष की सप्तमी को सीता जी का सर्ववृतान्त श्री राम जी को निवेदन किया। पहले लिख आये हैं कि पुराणों में अमान्त मास माना गया है। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से मास का आरम्भ होता है पूर्णमासी मास के मध्य में आती है। अमावस्या को मास समाप्त होता है। देश भर के पञ्चाङ्गों में पूर्णमासी का अङ्क १५ और अमावस्या का अङ्क ३० में लिखा रहता है।

पुराणों में तिथि इस प्रकार हैं

मार्गशीर्ष कृष्ण अष्टमी को श्री राम जी ने समुद्र की ओर प्रस्थान किया और सात दिन में सब सेना समुद्र के तट पर पहुँच गई अर्थात् अमावस्या तक/मार्गशीर्ष मास अमावस्या को समाप्त हो गया।

पौष के आरम्भ में शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से तृतीया तक सब सेना यथा स्थान ठहर गई।

पौष शुक्ल चतुर्थी को विभीषण श्री राम जी से आ मिला पंचमी को सबके साथ मिलकर समुद्र को पार करने के उपायों पर विचार किया।

पौष शुक्ल दशमी से त्रयोदशी तक समुद्र का पुल बांधा गया। बालमीकि रामायण में ऐसा उल्लेख है कि समुद्र का पुल बांधने में पाँच दिन लगे।

चतुर्दशी को सेना को सुवेल पर्वत पर रखा गया। श्री राम जी की पूर्णमासी के कृष्ण पक्ष की द्वितीया तक तीन दिन में सेना समुद्र पार हो गई। माघ शुक्ल प्रतिपदा को! अंगद दूत बनकर गया।

माघ शुक्ल द्वितीया से युद्धारम्भ हुआ सप्तमी, अष्टमी को वानरों और राक्षसों का घोर युद्ध हुआ।

चैत्र शुक्ला एकादशी को (तिब्बत के राजा) इन्द्र का सारथी मातलि श्री राम जी के लिए इन्द्र का भेजा हुआ रथ लेकर श्री राम जी के पास पहुँचा।

द्वादशी से चैत्र कृष्ण चतुर्दशी तक राम और रावण का अठारह दिन युद्ध हुआ और चतुर्दशी में रावण को श्री राम जी ने मार दिया। श्री राम जी ने विजय प्राप्त की।

चैत्र माम के अन्तिम दिन अमावस्या को रावण आदि का अन्त्येष्ठि संस्कार हुआ।

माघ शुक्ल की द्वितीया से चैत्र कृष्ण चतुर्दशी तक सतासी (८७) दिन हुए, इनमें बीच में १५ दिन (पन्द्रह) दिन युद्ध बन्द रहा। इस प्रकार (७२ दिन) बहत्तर दिन युद्ध हुआ।

वैशाख की आदि तिथि अर्थात् शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को श्री राम जी ने युद्ध भूमि में विश्राम किया।

द्वितीया को विभीषण का राजतिलक हुआ। वनवास के १४ वर्ष पूरे हो जाने पर वैशाख शुक्ल पंचमी को श्री राम जी भारद्वाज ऋषि के आश्रम प्रयाग में पहुँचे।

षष्ठी को नन्दी ग्राम भरत के पास पहुँचे वैशाख शुक्ल सप्तमी को श्री राम जी का राज्याभिषेक हुआ। चौदह मास और दस दिन सीता जी रावण की कैद में रहीं।

—स्कन्द पुराण ब्रह्म खण्ड (धर्मारण्य खण्ड २) अ० ३६/४२ से ८७ तक

पद्म पुराण-पाताल खण्ड अ० ३६ में भी यही है।

अब बाल्मीकि रामायण में रावण वध के उपरान्त श्री राम जी का अयोध्या लौटने का प्रसंग देखिए—

विभीषण ने श्री राम जी से निवेदन किया कि आप कुछ दिनों यहाँ विश्राम कीजिये हम आपकी सेवा करेंगे। श्री राम जी ने कहा—मैं अब ठहर नहीं सकता अवश्य जाऊँगा भरत मेरी प्रतीक्षा में होगा।

विभीषण ने कहा—मैं पुष्पक विमान पर चढ़ाकर आपको एक दिन में अयोध्या पहुँचा दूँगा। —युद्ध काण्ड सर्ग १२४/९

चौदह वर्ष पूरे हो जाने पर श्री राम पंचमी तिथि को भारद्वाज ऋषि के आश्रम पर पहुँचे और वहाँ बैठे हुए ऋषि को प्रणाम किया। —युद्ध काण्ड सर्ग १२७/1

चौदह वर्ष उसी मास में पूरे हो सकते हैं जिसमें वनवास हुआ। वनवास उसी मास और उसी दिन हुआ जिस दिन राजतिलक होना था। रामायण के अनुसार वह मास चैत्र था।

महाराजा दशरथ ने अपने पुरोहित ऋषि वशिष्ठ जी और नामदेव को कहा कि—यह चैत्र मास बहुत पवित्र है। वनों उपवनों में फूल फूले हुए हैं—इस समय आप राम के अभिषेक के लिए आवश्यक सामग्री तैयार करें।

चैत्र में राम को तिलक न होकर उसी समय बनवास हो गया। वनवास के चौदह वर्षों की समाप्ति चैत्र मास में ही हो सकती है—सो चैत्र मास में ही हुई। अत: रावण वध चैत्र मास में हुआ। आश्विन मास की विजय दशमी को तो रावण वध किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

बा० रा० का यह वचन है कि—श्री राम पंचमी तिथि को भारद्वाज ऋषि के आश्रम में पहुँचे, ठीक ही है। इस तिथि के साथ मास नहीं कहा गया। प्रश्न यह हो सकता है कि कौन से मास की पंचमी।

इसका सीधा समाधान यह है कि मास बिना बताये तिथि कही जाये तो वर्ष के प्रथम मास की तिथि जानी और मानी जायेगी।

इसकी पुष्टि स्कन्द पुराण और पद्म पुराण के प्रमाणों से हो चुकी है—वहाँ वैशाख शुक्ल पक्ष की पंचमी बताई है, वह तिथि वही है जो अब पूर्णिमा के समाप्त होने वाले मास चैत्र शुक्ल पक्ष की पंचमी कही जाती है।

चैत्र की अमावस्या को सम्वत् समाप्त होता है इसी दिन रावण की अन्त्येष्टि हुई थी। उससे एक दिन पहले रावण मारा गया था। अर्थात् चैत्र कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को रावण मारा गया था।

यह मैंने पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज, जिनका शुभ नाम है अमर स्वामी जी के प्रवचन के आधार पर लिखा है। अपनी बात की पुष्टि में बाल्मीकि रामायण, तुलसीदास कृत रामचरितमानस स्कन्द पुराण तथा पद्म पुराण से प्रमाण दिये हैं।

नोट –अब प्रश्न रह जाता है श्री राम के काल के निर्धारण करने का। महाभारत में श्री राम का विस्तार से वर्णन है और महाभारत को पाँच हजार वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। अतः श्री राम का काल पाँच हजार या पाँच हजार वर्ष से न्यून बतलाना अनुचित है एवं असंगत है।

• • •

राजेन्द्र यादव का उपन्यास 'अनदेखे अनजान पुल'

विमला पंडिता, एम० ए०
अनुसंधित्सु, हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

*

लघु उपन्यासों की कड़ी में राजेन्द्र यादव का यह सफल उपन्यास माना जाता है। इस उपन्यास में चेतन मस्तिष्क एवं अतृप्त इच्छाओं वाली एक कुरूप लड़की की कथा है। इस लड़की का नाम निन्नी है। निन्नी अपनी कुरूपता के प्रति सजग है अतः इस कारण हीन-भावना से त्रस्त रहती है।

इस उपन्यास का मुख्य पात्र है निन्नी और मुख्य कथा उसके जीवन की विषमताओं से ही जुड़ी हुई है। निन्नी जिसके सभी भाई-बहन सुन्दर हैं और जिसको सबकी प्रताड़ना मिलती है क्योंकि वह कुरूप है। इसी कुरूपता के कारण माँ उसको कोसती है, कॉलेज में कल्लो-परी के नाम से जानी जाती है। वह अपनी कुरूपता के प्रति सजग तो है ही साथ ही साथ किसी पुरुष का प्यार पाने को लालायित भी। इसके अभाव के कारण वह कुण्ठित हो जाती है। अतः सब ओर से निराश होकर वह अपना कैरियर बनाने में लग जाती है।

इस निन्नी का परिचय राजेन्द्र यादव ने एक ऐसी महिला के रूप में दिया है जो भारत सरकार के एक बड़े जिम्मेदार पद का भार संभाले हुए है। यह परिचय यादव जी ने इस उपन्यास के आमुख 'दो आग्रह' में दिया है।

निन्नी जिसका असली नाम विधु है यौवन के जितने पल जी ली, उतने प्रत्येक पल वह अपनी कुरूपता तथा कालेपन के प्रति सजग रही, क्योंकि घर में और कॉलेज आदि में भी वह कुरूपता के कारण उपेक्षित रही। परन्तु इस उपेक्षा के वावजूद भी उसके मन में यौन आकांक्षाएँ अपने ज्वार पर थीं। "निन्नी के अतृप्त प्रेम की भावना दर्शन की चप्पलों के गर्म स्पर्श में तृप्ति अनुभव करती है।"[१]

कुरूपता के कारण '.........घर में जो उसकी स्थिति थी, उससे धीरे-धीरे सबके मन में और स्वयं निन्नी के मन में ही यह बात जम गई कि ग्रहस्थी का सुख उसके लिए नहीं है।[२]

उपन्यास की नायिका निन्नी है, उपन्यास जब आरम्भ होता है तो वह एम० ए०

१. स्वातन्त्र्योतर हिन्दी उपन्यास साहित्य में जीवन-दर्शन—डा० सुमित्रा त्यागी, पृ० १६२।
२. अनदेखे अनजान पुल—डा० राजेन्द्र यादव, पृ० १३१।

की छात्रा होती है। जो अपने दादा के साथ दिल्ली नुमाइश देखने जाती है उसे अपने दादा के मित्र दर्शन के यहाँ ठहरना पड़ता है। दादा की व्यस्तता के कारण वह दर्शन के साथ नुमाइश देखने जाती है। उसके आत्मीय व्यवहार के कारण वह उसके साथ हिल-मिल जाती है और निस्संकोच 'न्यूड आर्ट' पर बातें भी करती है। वह दर्शन के साथ घर बसाने के स्वप्न भी देखती है लेकिन जब उसे पता चलता है कि वह किसी और से शादी करना चाहता है तो वह एक बार फिर टूट जाती है। जब उसे दर्शन के विवाहित होने की खबर मिलती है तो उसे लगता है जैसे किसी ने न केवल उसके रंग रूप अपितु उसकी आत्मा उसकी भावना तथा सम्पूर्ण व्यक्तित्व को नकार दिया है। वहीं वह अपने अतीत में खो जाती है जहाँ हमें सागर और बैंजल का परिचय मिलता है। सागर ने उसकी अतृप्त कामवासनाओं को भड़काने में सहयोग दिया और बैंजल से वह धोखे में चुम्बन प्राप्त करती है। वह अपने शरीर को अधिक से अधिक कष्ट देकर नष्ट करना चाहती है और जिसके फलस्वरूप वह बीमार पड़ जाती है। इसी बीमारी में दर्शन एक बार फिर आता है और निष्कपट तथा सहज ढंग से उसे जीने का अर्थ समझा कर जीने की प्रेरणा देता है। जाते समय वह उसके पपड़ाये होठों पर चुम्बन देता है, लेकिन तब निन्नी बैंजल के चुम्बन और दर्शन के चुम्बन का अन्तर समझ चुकी होती है। इस तरह दर्शन की बातों से उसे एक नया विश्वास मिला वह जीने के रास्तों से गुजरती गई। आजकल वह भारत सरकार के एक सम्मानित ओहदे पर काम कर रही है। इस तरह "निन्नी के परिवर्त्तन में चुम्बन प्रतीक बनकर आता है, एक जो निषिद्ध में से ढूंढ़ा 'वर्जित फल' था और दूसरा जो व्यक्ति का व्यक्ति के प्रति उमड़ते विश्वास, आस्था और सहज अनुराग का प्रमाण।"[1]

चरित्र-चित्रण, शिल्प एवं शीर्षक :

निन्नी उपन्यास की मुख्य कड़ी है, जिसके माध्यम से अन्य पात्रों का परिचय मिलता है। स्वयं वह कुरूप है और साथ ही अपनी कुरूपता के प्रति सजग भी। उपन्यास में लेखक ने उसकी कुरूपता का परिचय यों दिया है, "निन्नी अपने काले रंग, सांवले होंठ, आँखों में कोयों की सफेदी, लाल मसूढ़ों की कुरूपता के तीव्र हीनता-बोध से सर्वदा भयभीत रहती है। यह आतंक उसके मन में 'उल्टे पड़े तिलचट्टे की तरह हाथ पाँव मारती रहती है।"[2]

इसी कुरूप निन्नी के जीवन का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन लेखक ने किया है। निन्नी जो अपने इस रूप के कारण न तो किसी का प्रेम पा सकती है और न ही विवाह कर पाती है। फलस्वरूप उसकी यौन आकांक्षाएँ अतृप्त रहती हैं और हर पल वह क्षुब्ध रहती है।

निन्नी की व्याख्या करते समय लेखक ने उस पात्र के साथ एक तादात्म्य सा कर लिया है। लेखक ने इस पात्र को समझा है देखा है, एक घनिष्ठता सी प्राप्त कर ली है तथा एक नया रूप देकर उपन्यास में प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि निन्नी का चरित्र इतना जीवन्त बन पड़ा है। स्वयं लेखक का कथन निन्नी के बारे में यों है।

"यह मैं मान लेता हूँ कि 'अनदेखे अनजान पुल' की निन्नी एक स्वतन्त्र सृष्टि है और उसमें वास्तविक निन्नी से कहीं-कहीं साम्य है, इस प्रकार की अनेक घटनाएँ 'विधु' ने

१. ज्ञानोदय, फरवरी ६५, ममता अग्रवाल, पृ० १६।
२. वही।

अपने पर्वत प्रवास के साथ में मुझे सुनाई थी और उनमें से मैंने केवल दो को चुन लिया।"[१] इस प्रकार से ज्ञात होता है कि यादव के इस लघु उपन्यास का आधार उनकी सत्यानुभूति है। उपन्यास के हर पृष्ठ पर यादव इस पात्र के साथ संवेदनशील रहे हैं, जिसने उपन्यास के शिल्पगत सौन्दर्य में वृद्धि कर दी है।

यादव ने इस उपन्यास को कई प्रकरणों में विभक्त किया है, जैसे 'नुमायश और नुमायश', 'उतरती सीढ़ियों के अन्धेरे मोड़', 'बीमार पगडण्डी' आदि। इन प्रकरणों के माध्यम से इस उपन्यास में शिल्पगत चमत्कार आन पड़ा है, और पाठकों के औत्सुक्य को बनाए रखता है।

अगर निन्नी को मन की गहराइयों से कोई समझ पाता है तो वह है चित्रकार, कलाकार दर्शन। जीवन के सत्य को झेलने की प्रेरणा भी निन्नी को दर्शन से ही मिली। जिस ढंग से लेखक ने निन्नी का वर्णन किया है उसमें कुछ लोगों को 'अति' के दर्शन होते हैं और यह लेखक की अपनी "सहानभूति सहृदयता और दुलार का प्रमाण है।"[२] सारे उपन्यास की कथा का प्रवाह सपाट और अबाध गति से चल पड़ा है। लेकिन लेखक पर एक दार्शनिक हमेशा हावी रहता है, इसीलिए वह जहाँ भी समय मिले दार्शनिक व्याख्याओं में उलझ जाता है। ऐसा लगता है मानो लेखक इन अवसरों की ताक लगाए बैठा हो। उपन्यास में ऐसे सन्दर्भ दिल्ली में दर्शन और निन्नी के बीच हुए वार्तालाप तथा बीमार निन्नी के साथ बातें करते हुए दर्शन की बातों के समय मिलते हैं। लेकिन यह वार्तालाप इतने नीरस और बोर नहीं हैं जितने प्रसंग 'उखड़े हुए लोग' में मिलते हैं। लेखक पर चूँकि दार्शनिक हमेशा हावी रहता है इसलिए वह दार्शनिक व्याख्या में उलझ जाता है, परन्तु इस उपन्यास में वह बहुत सतर्क रहे हैं।

निन्नी के चरित्र का अवलोकन करते हुए डा० सुभद्रा लिखती हैं कि "............ दर्शन का कथन और प्यार निन्नी की हीन भावना को मिटा डालता है। वह अपने अभाव की पूर्ति कर लेती है। कॉलेज की 'कल्लो परी' एक दिन पढ़ लिख कर भारत सरकार के बड़े जिम्मेदार पद पर नियुक्त होती है। जीवन में वह ऊँचा पद पा लेती है और तब उसके अभाव की ओर नहीं देखता। उसका सम्मान, पद गौरव उसके अभाव का पूरक है।"[३]

उपन्यास का अवलोकन करने के पश्चात् ज्ञात होता है कि 'विधु' नाम की किसी महिला से यादव जी का परिचय हुआ था जो इस उपन्यास की प्रेरणा स्रोत रही है और यही महिला विधु उपन्यास में निन्नी का रूप लेती है।

'डा० हेमेन्द्रकुमार पानेरी' निन्नी के जीवन-दर्शन को आत्मपीड़न का दर्शन मानते हैं। यौन-आकाक्षाएँ, यौन-तृप्ति उसके लिए अनजान अनदेखे पुलों की भाँति है जिन पर वह चाह कर भी चलने का अवसर नहीं पाती है। उसे किसी पुरुष की मांसल बाहों का सहारा नहीं मिलता, किसी की गर्म तेज साँसों में डूब जाने की उसकी तमन्ना अधूरी रह जाती है, जिसके फलस्वरूप उसमें कुण्ठा का भाव उत्पन्न हो जाता है। शायद इसीलिए राजेन्द्र यादव ने 'अनदेखे अनजान पुल' को इन अधूरी आकांक्षाओं, तमन्नाओं, अभिलाषाओं

१. ज्ञानोदय, फरवरी ६५, 'केवल एक सेतु', राजेन्द्र यादव, पृ० २१,
२. वही, 'अनदेखे अनजान पुल', ममता कालिया, पृ० १६।
३. हिन्दी उपन्यास परम्परा और प्रयोग, डा० सुभद्रा, पृ० ६४।

का प्रतीक बनाया है। "वास्तव में निन्नी की कहानी एक अति सामान्य लड़की की कहानी ही है, जो अपने मन की गहराइयों से पार जाने के लिए पुल की खोज में है।"[1]

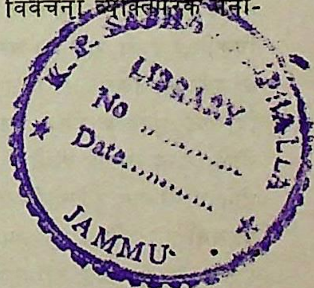
"जाने कितने हैं जो अपने भीतर की खाइयों और गड्ढों को लांघकर 'अपने पार' आये हैं, शायद कहीं-न-कहीं हर आदमी आता है—वरना उन्हीं में डूब गया होता।"[2]

यह लघु उपन्यास निन्नी की मानसिक ग्रन्थियों को खोलता हुआ उसके जीवन के महत्वपूर्ण निर्णय लेने तक का वर्णन लिए हुए है। स्वतन्त्रता से पूर्व की नारी का साहित्य में निस्सन्देह ही बहुत वर्णन हुआ है, लेकिन हाड़-माँस की पुतली के धड़कते दिल की भावनाओं की सर्वथा उपेक्षा की गई है। साहित्य में अगर उसका भावनात्मक वर्णन हुआ था वह था, पत्नी या प्रेयसी के रूप में। किसी नारी की यौन-आकांक्षाओं का वर्णन नहीं किया जाता है, सब वर्णन आदर्शमय होते थे। शायद तब यह समय की माँग थी, क्योंकि भारतीय समाज में निन्नी की तरह कुरूपता के कारण कोई नारी अविवाहित नहीं रहती थी, ना ही वह अपनी यौन-आकांक्षाओं को उद्दीप्त होने देती थी भले ही उसे मन को मारना क्यों न पड़ता।

भारतीय समाज में नारी को पुरुष के साथ एकान्त में बैठकर विचार-विमर्श करना तो दूर था, वह पर-पुरुष के बारे में सोच भी नहीं सकती थी। लेकिन बदलते समय के साथ मूल्यों में भी परिवर्तन आता गया। पहले किसी नारी का किसी अनजाने पुरुष के साथ एकांत में बैठकर बात करना तक अनैतिक माना जाता था, लेकिन आधुनिक युग में यह बातें अनैतिक नहीं रह गई हैं यद्यपि अभी भारतीय समाज इसे पूर्ण रूप से नैतिक भी मानने को तैयार नहीं है। राजेन्द्र यादव ने इस उपन्यास में परम्परागत नैतिकता के प्रति उपेक्षा दिखाई है, जिसका उदाहरण निन्नी को दर्शन के साथ खुल कर बातें करते हुए दिखाते हैं और निन्नी को दर्शन के साथ एकांत में 'न्यूड-आर्ट' पर बातें करते हुए दिखाते हैं।

संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि यह उपन्यास निन्नी की हीन ग्रन्थियों का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन है। इस अध्ययन में लेखक ने पूरी संवेदना से काम लिया है। निन्नी इस उपन्यास की मुख्य पात्र है, अन्य सभी पात्र उसकी मानसिक अवस्थाओं की अभिव्यक्ति करते हैं।

चूंकि इस उपन्यास में निन्नी की कथा ही प्रमुख है, सामाजिक चेतना ही उपेक्षा की गई सी लगती है, इसीलिए 'महावीर लोढ़ा' इस उपन्यास की विवेचना व्यक्तिवादी मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों के अन्तर्गत करते हैं।



१. ज्ञानोदय, फरवरी अंक १९६४, पृ० १९।
२. ज्ञानोदय, फरवरी अंक, राजेन्द्र यादव, पृ० १९।

६० के बाद के हिन्दी नाटक : व्यंग्य की शल्यक्रियात्मक रंगाभिव्यक्ति

डा० बालेन्दु शेखर तिवारी

रीडर, हिन्दी विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची

*

मौजूदा रचनाओं का सम्पूर्ण संघर्ष इस लक्ष्य पर केन्द्रित है कि रचनाकार कितनी सतर्कता एवं सफलतापूर्वक अपने सोच और सम्प्रेषण को एक कर देता है। उत्सव-प्रधान राजनीति और प्रलोभन-प्रधान व्यवस्था, घिसटते हुए परिवेश और लजाती हुई कलाकारी की तमाम विद्रूपताओं को सरेआम नंगा करने में सक्षम व्यंग्य-लेखन वास्तव से सीधे साक्षात्कार का अन्यतम माध्यम बन कर उभरा है। नाटक की चर्चा भी एक ऐसे ही साधन के रूप में की गई है। हमीदुल्ला ने 'उत्तर उर्वशी' की भूमिका में संकेत दिया है 'आज का आदमी जिन हालात में जी रहा है या अपने होने या जिंदा रहने का अकेले संघर्ष कर रहा है, वे अपने आप में इतने नाटकीय हैं कि नाटक ही एकमात्र विधा है जो आज के आदमी की जिंदगी का सही चित्रण कर सकती है।'[1] स्वभावतः नाटक और व्यंग्य को एक कर देने की अनेक कोशिशें होती आई हैं। एक अरसे तक प्रहसन, भाण, हास्य-व्यंग्य नाटक ऐसे अभिधान उस नाट्य सर्जना का परिचय देते रहे हैं, जिसमें शब्द और अर्थ की निपट चमत्कार पूर्ण विच्छलता विकसित होती रही है। वस्तुतः व्यंग्य वह विशिष्ट दृष्टि है जो अर्थ और सम्प्रेषण के माध्यम से कहीं भी किसी भी विधा में क्रूरतापूर्वक युगीन सत्य की शल्य चिकित्सा करती है। यह विशिष्ट प्रहारक दृष्टि जिन नाटकों की आत्मा बन कर स्थापित हो जाती हैं, उन्हें सीधे-सीधे व्यंग्य नाटक कहने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। हास्य के चटखारों और उससे निष्पन्न होने वाली मनोरंजन की सरणियों से व्यंग्य नाटक का कोई रिश्ता नहीं है। दस गुदगुदीकारी प्रहसनों की अपेक्षा एक व्यंग्य नाटक का प्रभाव अधिक तीखा और मर्मभेदी होता है। व्यंग्य नाटक में उपलब्ध व्यंग्यदृष्टि अपनी सूक्ष्म एवं अंतरंग शल्यक्रिया के दौरान कभी किसी अवांछित को काट कर फेंक देती है, तो कभी किसी विगलित सत्य की जगह जीवन की प्राणोंजा से विंधी हुई स्थिति का प्रतिरोपण करती है। पहले व्यंग्य उक्ति विशेष, स्थिति विशेष अथवा तंतु विशेष में उपस्थित रहता था, अब सम्पूर्ण कृति की संरचना में व्यंग्य-चेतना

१. हमीदुल्ला : उत्तर उर्वशी, पृ० ७।

व्याप्त रहती है। इसी कारण व्यंग्य नाटक कोई अभ्यासिक सृजन नहीं है, अपितु एक तार को छूकर सहस्रों तार झनझना डालने की विलक्षण क्षमता का संगमन इसमें हो गया है।

हिन्दी के व्यंग्य नाटकों का काफिला १८७६ में 'भारत दुर्दशा' (भारतेन्दु) से शुरू हुआ, लेकिन यह स्वीकार लेने में संकोच नहीं होना चाहिए कि १९६० के पूर्व व्यंग्य नाटक की अवधारणा को स्थापना नहीं मिली। घोषित तौर पर उपेन्द्र नाथ 'अश्क' ने 'स्वर्ग की झलक' (१९३९) को व्यंग्य नाटक कहकर पहली बार पुकारा, इस पुकार का कोई प्रभावशाली असर न नाट्यचिन्तन पर पड़ा और न नाट्यलेखन पर। लिहाजा व्यंग्य नाटक को लम्बी अवधि तक कोई फ्रेम न मिल सका। तमाम रचनात्मक विधाएँ सृजन-प्रक्रिया के एक विशेष क्षण में सामने आई हैं, जब रचनाकार का विवेक अपनी अभिव्यक्ति को एक आकार देने के लिए सतर्क रहता है। इस सतर्कता ने ही धीरे-धीरे व्यंग्य नाटक की जमीन तैयार की है। जब कोई प्रातिभ अभिव्यक्ति-रूप परम्परागत स्थिर निर्णायक तंत्र से अपने को विलग महसूसता है और अपनी लोकप्रियता से अपने अस्तित्व को सिद्ध करता है, तब यही नवोन्मेषशाली रूप विधा की तरह मान्य हो जाता है। जब किसी विशिष्ट रूप में रची जानेवाली अभिव्यक्तियाँ संख्या और प्रभाव, सम्प्रेषण और रुचि के स्तर पर प्रौढ़ता का परिचय देने लगती हैं, तब वह विशिष्ट रूप संज्ञात्मक मान्यता का अधिकारी हो जाता है। ऐसा व्यंग्य नाटक के साथ भी हुआ है। १९६० के बाद के समस्त व्यवहारों का दर्पण बनने के लिए नाटकों के सामने इसके सिवा कोई अन्य विकल्प नहीं रह गया कि उनमें व्यंग्य की तराश का विकास हो। प्रेरणापूर्ण परिवर्तनकामिता एवं प्रभावक प्रहार की सजगता से समृद्ध नाटक इसी कारण इधर लिखे गये हैं कि उनके द्वारा सामाजिक-सांस्कृतिक विडम्बनाओं, परिवेशगत विसंगतियों और जीवन की अर्थहीनताओं को सही पकड़ दी जा सके। व्यंग्यनाटकों का लक्ष्य समूची व्यवस्था, पूरी मूल्यपद्धति पर रोशनी केन्द्रित करना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने व्यंग्य की प्रयोगवत्ता का विस्तार इंगित किया है—हर श्रेष्ठ रचना में उपरले स्तर की रूढ़ मान्यताओं का खोखलापन दिखाने के लिए और अतल गाम्भीर्य में रहने वाली वास्तविकता को अनुभव कराने के लिए इसका प्रयोग किया गया है।[१] व्यंग्य की इस क्षमता को पहचान कर ही हिन्दी में व्यंग्य नाटक लिखे गये हैं। कणाद ऋषि भटनागर ने 'जनता का सेवक' (१९६३) में आधुनिक जनसेवकों पर प्रहार करते हुए इसी पहचान का परिचय दिया है। संतोष नारायण नौटियाल ने 'चाय पार्टियाँ' (१९६३) में भी बेकारी की समस्या को सिफारिश के फलक पर हल करने वाली विवशताओं का प्रहारमूलक चित्रण किया है। डा० सत्य प्रकाश संगर को यह श्रेय प्राप्त है कि 'दामाद का चुनाव' (१९६८) में एकत्र तीन व्यंग्य एकांकियों द्वारा क्रमशः कालेज की नियुक्तियों, नेताओं की कदाचारिता और भारत भर में पसरी विद्रूपताओं पर पूरी शक्ति से उन्होंने प्रहार किया है। दामाद का चुनाव करने वाले एक्सपर्ट की खासियत यह है कि उन्होंने बीस साल से पढ़ने-पढ़ाने से परहेज कर रखा है। उनकी धारणा है—'हमें ऐसे व्यक्तियों को लेना चाहिए, जिन्हें और कहीं लिए जाने की आशा नहीं।'[२] उस देश की सच्चाइयों की परिक्रमा डा० संगर ने की है, जहाँ कोई सड़क अथवा कुआँ अथवा पुस्तकालय तब तक नहीं खुल सकता, जब तक उसका किसी मंत्री के द्वारा उद्‌घाटन न हो जाए। व्यंग्य नाटक के स्तर पर राष्ट्रीय अधोगति के कारणों का संधान नाटककार ने किया

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान : २४ मार्च १९६८, पृ० ९।
२. डा० सत्य प्रकाश संगर : दामाद का चुनाव, पृ० २१।

है, लेकिन व्यंग्य नाटक की वास्तविक शक्ति का विस्फोट ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने 'शुतुरमुर्ग' (१९६९) में किया।

१८७६ में व्यंग्य नाटक की जिस फिल्म का ट्रेलर 'भारत दुर्दशा' ने दिखाया था, वह फिल्म सही मायने में १९६९ में रिलीज हुई। 'शुतुर्गमुर्ग' समाज और राजनीति में व्याप्त छल और फिसलन के विभिन्न सन्दर्भों की प्रतीकात्मक प्रस्तुति है। डा० शेरजंग गर्ग के अनुसार —'समकालीन राजनीति के सुरक्षा-कवचों के रूप में मौजूद बड़े-बड़े आश्वासनों से युक्त परियोजनाओं के मसौदे और रिश्वतखोरों तथा भ्रष्ट कर्मचारियों की सौदेबाजी के साथ-साथ किसी भी कीमत पर सत्ता बनाए रखने के लालसी राजनीतिज्ञों की भीतरी पर्तें इस नाटक के कथ्य में उतारी गई हैं।'[1] आत्मछल की जिस गुफा में पहुँचकर इस नाटक का नायक शुतुरनगरी का राजा अपनी समूची प्रजा को धोखे में रखता है, उसके बहाने अपने ही परिवेश की निर्मम अभिव्यक्ति नाटककार ने की है। भूख की समस्या के समाधान के लिए राजाज्ञा निकलती है—'हम शुतुरनगरी के महाराज इसी क्षण एक जाँच समिति के निर्माण की घोषणा करते हैं। समिति ही अध्यक्षी स्वयं महारानी होंगी। वे एक कलात्मक विवरण इस तथा-कथित भुखमरी पर हमें देंगी। सज्जनो, आप हमें देखेंगे हम क्षणमात्र में इस समस्या का हल कर देंगे।'[2] यह भारत की प्रशासनिक व्यवस्था ही है जो कागज पर सोने का शुतुरमुर्ग बनाती है और जनता की समस्याओं को नारों के समुद्र में डुबोती है। हर समस्या को अपनी उपेक्षा से हल कर डालने वाले राजनीतिज्ञों के कपटाचार पर बेबाक सीधी नजर ज्ञानदेव अग्निहोत्री की पड़ी है। अपने बिखरे हुए व्यंग्य के बावजूद 'शुतुरमुर्ग' एक उल्लेखनीय नाट्य रचना है कि इसने व्यंग्यनाटक के प्रभामण्डल का निर्माण किया।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने व्यंग्य नाटक 'कलंकी' (१९६९) में एक ऐसे इलाके की परिकल्पना की है, जहाँ सभी लोग कलंकी अवतार की प्रतीक्षा कर रहे हैं। लोगों की बोधशक्ति समाप्त हो गई है, समाज में प्रश्न करना अपराध बन गया है। ऐसे माहौल से बाहर केवल हेर पा रहा है, इसी कारण वह नगर में लौटकर जिज्ञासाएँ जगाता है। एक नई प्रश्न-चेतना उमगती है और कलंकी अवतार का इंतजार चूर-चूर हो जाता है। मिथकमूलक होते हुए भी 'कलंकी' का रचनातंत्र वर्तमान परिवेश की विद्रूपताओं पर प्रहार करता है। इसी तरह विनोद रस्तोगी ने 'जनतंत्र जिन्दाबाद' (१९७०) में राजनीतिक हथकंडों और चुनावी कपटों का पर्दाफाश किया है। इस व्यंग्य नाटक में गुप्ताजी और मेहरोत्रा साम्प्रत राजनीतिक वर्ग के प्रतिनिधि हैं और राजनीति के कपटपूर्ण संसार का संचालन करते हैं। गुप्ताजी का विचार है—'राजनीति में न तो भावुकता के लिए कोई स्थान है और न तर्क के लिए। पार्टी की नीति और उसके नेताओं के प्रति अंधविश्वास और श्रद्धा ही सफलता के मूल हैं।'[3] जनतंत्र के नंगे सत्य के निकट पहुँचाने में विनोद रस्तोगी का यह व्यंग्य नाटक सक्षम है और डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने इससे भी प्रखर जीवंतता के साथ तीखे व्यंग्य की अवतारणा 'अब्दुल्ला दीवाना' (१९७३) में की है। यह व्यंग्य नाटक उनकी इस विचारणा का साकारीकरण है कि जीवन का यथार्थ अन्वेषण और उसकी परिणतियों को उनके अपने

१. डा० शेरजंग गर्ग : व्यंग्य के मूलभूत प्रश्न, पृ० १३५।
२. ज्ञानदेव अग्निहोत्री : शुतुरमुर्ग, पृ० ५८।
३. विनोद रस्तोगी : जनतंत्र जिन्दाबाद, पृ० १९।

प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध करना ही मौलिक नाट्य-सृजन है।[1] आत्मक्षयी और मूल्यग्रासी स्थितियों में अब्दुल्ला के दीवानेपन को नाटककार ने सार्थक अभिव्यक्ति दी है। अब्दुल्ला उस नैतिकता एवं आस्था का प्रतीक है जिसे मार कर नया उच्च वर्ग उभरा है। वर्तमान व्यवस्था, न्याय-प्रणाली और खोखलेपन से अब्दुल्ला भली भाँति परिचित है—'सब नाटक किया जाता है। वही गोली चलाता है, वही जाँच करता है। पुलिस को उत्कोच दिया जा सकता है। धन से वकील, पेशकार तथा जज खरीदा जा सकता है और यदि जज बिकने से इंकार कर दे तो उस पर राजनीतिक दवाव डाल कर उसका स्वतंत्र मत समाप्त किया जा सकता है।'[2] अराजकता और संकीर्ण सरोकारों को बेरहमी से व्यंजित करता ही 'अब्दुल्ला दीवाना' का एकसूत्री कार्यक्रम है।

डा० नरेन्द्र कोहली ने अपने व्यंग्य नाटक 'शम्बूक की हत्या' (१९७४) द्वारा न केवल स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिदृश्य का अंकन किया है, अपितु व्यंग्य नाटक की सामर्थ्य का शंखनाद भी। यह नाटक उस देश का वास्तविक दर्पण है जहाँ का हर कोना सूखाग्रस्त क्षेत्र है और जहाँ भ्रष्टाचार से अनासक्त शम्बूकों की हत्या कर दी जाती है। 'हर ईमानदार भारतीय की परेशानियाँ इसमें समाहित हैं कि कैसे हमारे जीवन को घुन लगता जा रहा है और कैसे कुछ तत्त्व अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु पूरे के पूरे माहौल को गँदला कर रहे हैं।'[3] समूचे देश के साथ अनेकविध बलात्कार करने वाली स्थितियों को डा० नरेन्द्र कोहली ने उजागर किया है। इस व्यंग्य नाटक की सूक्तियों से व्यंग्य की चमक का अनुमान लगाया जा सकता है—

(क) 'वह शासन ही क्या जो जनता से सहमत हो जाए।'[4]

(ख) 'पीएच० डी० एक डिग्री है जो नालायक लोगों के विश्वविद्यालय में घुसने का चोर दरवाजा है।'[5]

(ग) 'धनवान लोग शरीफ आदमी हैं, साफ-सुथरे लोग हैं, रोज-रोज मंदिर जाते हैं, घर में जुए का अड्डा चलाते हैं, अपने बच्चों को पब्लिक स्कूल में पढ़ाते हैं और लड़कियों के क्रय-विक्रय का धंधा चलाते हैं, गोदामों में चीजें छिपा कर देश की चीजों की बचत करते हैं।'[6]

इस देश की व्यवस्था में रच-बस गई विसंगतियों का धमाकेदार विस्फोट 'शम्बूक की हत्या' में हुआ है। सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक देश के विविध उपकरणों को डा० नरेन्द्र कोहली ने साकार किया है। व्यंग्य का ऐसा ही सतर्क विनियोग आनन्द प्रकाश और रमेश उपाध्याय के नाटक 'सफाई चालू है' (१९७४) में भी हुआ है। ठीक यही बात सुशील कुमार सिंह के व्यंग्य नाटक 'सिंहासन खाली है' (१९७४) के संदर्भ में भी कही जा सकती है। डा० विनीता अग्रवाल के शब्दों में—'सिंहासन खाली है' एक स्तर पर गहरा व्यंग्य रूपक है, दूसरे स्तर पर कथोपकथन की तेज आपसी काट से बुना हुआ एकांकी और तीसरे स्तर पर नाटक के जरिए देश की मनः स्थिति पर एक सीधी कविता है।[7] व्यवस्था और जनता के बीच की टकराहटों और शासनतंत्र की विकृतियों को सुशील कुमार सिंह ने अभिव्यक्ति दी है।

१. डा लक्ष्मी नारायण लाल : आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच, पृ० ३५।
२. डा० लक्ष्मी नारायण लाल : अब्दुल्ला दीवाना, पृ० २१।
३. बात तो चुभेगी : अगस्त-सितम्बर १९८१, पृ० ३६।
४. डा० नरेन्द्र कोहली : शम्बूक की हत्या, पृ० १९।
५. उपरिवत्, पृ० २१।
६. उपरिवत्, पृ० १३।
७. नर नारायण राय (सं०) : हिन्दी नाटक और नाट्य समीक्षा १९७४, पृ० ७७।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने 'बकरी' (१९७४) की प्रस्तुति द्वारा हिन्दी व्यंग्य नाटक की लोकशैली को नया संधान प्रदान किया। समय के साथ गहराती हुई स्वाधीनता की खोखली दशा एवं लगातार कठोर होते हुए सामाजिक-राजनीतिक आचरणों के विरुद्ध नाटककार ने बकरी के बहाने जेहाद छेड़ा है। इस नाटक का समसामयिक व्यंग्य लोकभाषा के निकट जाती हुई लचीली आम भाषा के परिपार्श्व में सबल हुआ है। धर्म, शोषण और राजनीति का प्रतिनिधित्व करने वाले तीन पात्र अपने षड्यंत्र में एक सिपाही को भी सम्मिलित कर बेचारी बिपती की बकरी को गाँधीजी की बकरी सिद्ध कर देते हैं और देश की धर्मप्राण जनता की आँखों में धूल झोंक कर सुख भोगते हैं। कमोवेश इसी कथ्य और शिल्प का इस्तेमाल किरण चंद्र शर्मा ने 'मन्दिर की चारपाई' (१९७५) में किया है। गाँव के एक चौकीदार की चारपाई को एक साधु बलात् हथिया कर उसे भगवान् विष्णु की चारपाई सिद्ध कर धर्मान्ध लोगों को लूटता है। आम आदमी के शोषण के लिए फैलाए गए छल का उद्घाटन 'बकरी' में है और 'मन्दिर की चारपाई' में भी। हमीदुल्ला का नाटक 'दरिन्दे' (१९७५) एक पृथक् स्वाद का परिचायक है, विद्रूपताग्रस्त कारगुजारियों को इंगित करने वाली गम्भीर व्यंग्यात्मक नाट्यानुभूति का संग्रथन है। थोड़े से अवसरवादी लोग किस सफाई के साथ अन्यों को चंगुल में फँसाए रहते हैं इसी कौशल का व्यंग्यात्मक-प्रतीक-केन्द्रित चित्रण हमीदुल्ला ने किया है। 'दरिन्दे' उस वर्ग का चित्रण है जो अपनी सहूलियत से हर बात को अपने हित में एक नाम दे देता है और जिसके कारण हर सच्चा ईमानदार जीव सलाखों के पीछे बन्द है। व्यंग्य को इस नाटक की सबसे बड़ी शक्ति घोषित करते हुए डा० सुन्दरलाल कथूरिया ने स्वीकार किया है कि जीवन-मूल्यों और मानवीय रिश्तों में आनेवाले हर बदलाव की, हर स्पन्दन को हमीदुल्ला ने लक्षित किया है—व्यंग्य और प्रतीक के माध्यम से उसे नाटकीय अभिव्यक्ति दी है।[१]

आपात्काल ने व्यंग्य नाटक की सर्जना की सोच और संरचना का एक नया क्षितिज प्रदान किया। इस दौर की क्रूर वास्तविकताओं को प्रस्तुत करने वाला सबसे चर्चित नाटक रहा है अमृत नाहटा विरचित 'किस्सा कुर्सी का' (१९७७)। एक ऐसे राजनीतिक वातावरण का चित्रण अमृत नाहटा ने किया है जिसमें सत्ता स्वयं मंजिल है जिसमें जनता के साथ किए वादों को भूल कर ही कोई कुर्सी पर बैठ सकता है और जिसमें राजनीतिक समझौता करने की कला है। इस व्यंग्य नाटक में एक डाक्टर जनता की बीमारी देखता है 'इस बीमारी का नाम है गरीबी। इसमें खाना खाना मना है। गम खा सकती हो, गोते खा सकती हो, गाली खा सकती हो, धक्के खा सकती है।'[२] देश की इसी बीमारी का मूल्यांकन सुशील कुमार सिंह ने भी 'नागपाश' (१९७७) में किया है। सत्ता में रहकर उसका दुरुपयोग करने वालों के बारे में आपात्काल की पृष्ठभूमि सहित सजग चित्रण नाटककार ने किया है। 'नागपाश' के सत्ताधारी ने मतदाताओं से कहा है 'मैं जानता हूँ कि आपको मुझसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं, उम्मीदें हैं। मैं भी आपकी आशाओं और उम्मीदों पर पानी नहीं फेरना चाहता किन्तु इसके लिए यह जरूरी है कि आप मेरे नजदीक न आएँ, मुझसे दूर ही रहें।[३] राजनीतिक व्यवस्था के बीच मामूली आदमी की वास्तविक स्थिति का चित्रण गिरिराज किशोर ने व्यंग्य नाटक

१. समीक्षा : जुलाई-अगस्त १९७६, पृ० ७५।
२. अमृत नाहटा : किस्सा कुर्सी का, पृ० ९४।
३. सुशील कुमार सिंह : नागपाश, पृ० २२।

'चेहरे, चेहरे, कितने चेहरे' (१९७८) में भी हुआ है। कुर्सी को मजबूती से पकड़नेवाले लोगों की सारी जनविरोधी नीतियों का पर्दाफाश करने वाला यह नाटक मौजूदा तंत्र की क्रूरता को व्यंजित करने में समर्थ है। 'डा० गिरीश रस्तोगी के अनुसार, बात केले और आम के पेड़ से होती हुई समस्याओं, जनकल्याण पर लम्बी खोखली बातचीत और बहुत लम्बी प्रक्रिया पर आ जाती है, देश की महान योजनाओं पर प्रश्नचिह्न लगता जाता है; साथ ही आम आदमी की निष्क्रियता पर भी व्यंग्य होता है।'[१] इस व्यंग्य नाटक द्वारा गिरिराज किशोर ने नये तरीके से प्रजातंत्र का मजाक उड़ाया है, अनुभव की सक्रिय अर्थवत्ता से जोड़ा है।

डा० कुसुम कुमार का नाटक 'ओम् क्रांति क्रांति' (१९७८) में आधुनिक शिक्षा पद्धति की भ्राँति और दिशाहीनता का व्यंग्यात्मक उच्चारण है। जबकि, मणि मधुकर के व्यंग्य नाटक 'दुलारी बाई' (१९७८) में साम्प्रत व्यवहारों की कुशल शल्यक्रिया की गई है। नौटंकी शैली में रचित यह नाटक कहीं दुलारी बाई के पुश्तैनी जूतों के बहाने वर्तमान पर ठहरे हुए अतीत के बोझ को उतार फेंकने की विकलता दिखाता है, तो कहीं विविध विसंगतियों के प्रति उत्सुकता जगाता है। इस नाटक में ईश्वर भी मौजूदा संकट से घबराया हुआ अंकित किया गया है—'लोग मेरे अलग-अलग नामों को लेकर लड़ते हैं, मैं तंग आ गया हूँ उनसे। स्वर्ग छोड़ दिया है और अब एक गुफा में रहकर गुमनामी के साथ वक्त गुजार रहा हूँ।'[२] प्रारम्भ से अंत तक मणिमधुकर ने 'दुलारी बाई' में प्रभावक व्यंग्य चेतना को प्रवाहित रखा है।

गोगोल के मूल रूसी नाटक 'इन्सपेक्टर जनरल' के प्रभाव को ग्रहण करते हुए मुद्राराक्षस ने अपने व्यंग्य नाटक 'आला अफसर' (१९७९) को लिखा है। राजनीति और समाज का नुकीला चित्रण करते हुए नाटककार ने बदले हुए परिवेश और व्यवस्था के प्रदूषण को प्रस्तुत किया है। सुशील कुमार ने 'गुडबाई स्वामी' (१९७९) में स्वामी की भूमिका में एक चोर को रख कर इसी विद्रूपता को साकार किया है। दिव्यानन्द के कपटी चरित्र द्वारा स्वामीगिरि के कदाचारों का भंडाफोड़ करते हुए नाट्यकर्त्ता ने व्यंग्य नाटक की अस्मिता को नई रंग सज्जा से संपृक्त करने की कोशिश भी की है। हमीदुल्ला ने भी 'उत्तर उर्वशी' (१९७९) में इसी कोशिश को प्रयोगात्मक आकाश दिया है। पुरुरवा और उर्वशी के पारम्परिक कथानक के परिपार्श्व से झाँकती हुई आधुनिक शून्यता का व्यंग्यात्मक अंकन नाटककार ने किया है। 'उत्तर उर्वशी' इस बेचारगी का सटीक प्रस्तुतीकरण है कि हम सब धर्म, अर्थ और काम के संदर्भ में विसंगतियों के महावन में भटक रहे हैं। व्यंग्य नाटक की संकलपना को जब शरद जोशी जैसे प्रखर व्यंग्य सर्जक ने साधा, तब व्यंग्य की नाटकीय क्षमता अधिकाधिक सम्भावनापूर्ण हो गई। 'दो व्यंग्य नाटक' (१९७९) में शरद जोशी की दो व्यंग्यधर्मी नाट्य-कृतियाँ आकलित हैं—'एक था गधा उर्फ अलादाद खाँ' और 'अंधों का हाथी'। 'एक था गधा' उन बहुत सारे अलादादों की नियति का आईना है जो हमेशा बाएँ चलते, समय से टैक्स चुकाने, क्यूबद्ध रहने के बावजूद नवाब साहब की प्रतिष्ठा बनाने के लिए लाश में परिवर्तित हो जाते हैं। मिथक के सहारे आधुनिक नौकरशाही को शरद जोशी ने 'अंधों का हाथी' में निशाना बनाया है। बड़ी चतुराई के साथ सूक्ष्म तरीकों से शरद जोशी ने अपनी बात कह डाली है और प्रत्येक अवसर पर उनकी व्यंग्य भाषा की चमक असर छोड़ती है। नवाब ने

१. वस्तावेज : अप्रैल १९७९, पृ० ४६।
२. मणिमधुकर : दुलारी बाई, पृ० ७३।

अलादाद खाँ को आम आदमी की नियति से परिचित कराया है—'कल तुम एक खबर बनोगे—खबर, तुम्हारा स्मारक खड़ा होगा। तुम्हारे नाम पर सड़क, बाग, यूनीवर्सिटी—साले आम आदमी, इससे ज्यादा तुझे चाहिए क्या, मैं भाषण दूँगा तुझ पर और तेरी बेवा को पेंशन मिलेगी।'[1] इतनी ही सटीकता के साथ शरद जोशी ने कुछ और व्यंग्य नाटक भी लिखे हैं, जिनका थौकी करण अभी बाकी हो। 'प्रेयसी होना', 'बैंगन की नाव', 'हम कहाँ थे', 'अंधा युग क्रिकेट का' आदि ऐसे ही व्यंग्य नाटक हैं। शरद जोशी ने व्यंग्य लेखन की सम्पूर्ण आभा का विस्फार इन कृतियों में किया है। बानगी के तौर पर 'अंधा युग क्रिकेट का' के विदुर का वक्तव्य द्रष्टव्य है—

'यद्यपि परिवार नियोजन की
आपने उपेक्षा की
अपने अज्ञानवश
पर फास्ट बॉलर का नितांत अभाव है
देश में
आपने इस पर कभी क्यों नहीं विचार किया,
गांधारी जी एक फास्ट बॉलर अगर देतीं
क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड
उनका कितना आभारी होता।'[2]

शरद जोशी की व्यंग्यकारी व्यंग्य नाटक के इलाके की एक महत्तम चढ़ाई है, जहाँ तक पहुँचने के लिए अनेक नाटककार सचेष्ट हैं। इस क्रम में 'चिन्दी मास्टर' के रचयिता राजेश जैन का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। 'चिन्दी मास्टर' (१९८०) सत्ता की दुरभिसंधि को प्रतीकात्मक स्तर पर दिखलाने वाला व्यंग्य नाटक है। इस नाटक का नायक चिन्दी मास्टर एक रेयर आइटम है। उसकी परिकल्पना है कि कुछ दिनों बाद पुलिस भीड़ को नियंत्रित करने के लिए लाठियाँ नहीं, अपितु आँकड़े बरसाएगी।[3] शोषितों का मुखौटा लगा कर शोषण-कर्म में व्यस्त रहने वाले लोगों और रास्ते के गड्ढ़े का भी विधिवत् उद्‌घाटन करने वाले नेताओं पर राजेश जैन का यह व्यंग्य नाटक एक सीधी चोट है। इसी तरह सुरेन्द्र कुमार तिवारी ने पदलोलुपता और स्वार्थ में घिरे तंत्र का सतर्क आलेखन 'एक और राजा' (१९८०) में किया है। यह व्यंग्य नाटक एक ऐसे समाज का चित्रण है जिसमें स्वाभाविक मौत से मरे आदमी को देखने सारा शहर आता है, जिसमें सब एक दूसरे को संदेह भरी निगाह से ताकते हैं। एक ऐसे घोड़ा-शासन की मिथक कथा है यह जिसमें घोड़ा उच्चश्रवा राज्य का महामंत्री है और जिसमें जनता घास खाती है। परिवेश में मूल्यों के बिखराव और विसंगतियों के फैलाव के बीच ऐसे व्यंग्य नाटकों की पहचान धीरे-धीरे तीव्रतर होती गई है। राजेश शर्मा कृत 'आवश्यकता एक कुर्सी की' (१९८०) और राम प्रसाद मिश्र रचित 'कॉफी हाउस' (१९८१) ऐसे ही ताजे व्यंग्य नाटक हैं जिनमें विद्रूपताओं के संसार को सविस्तार अभिव्यक्ति मिली है।

१९६० के बाद लिखे गए अद्‌यतन व्यंग्य नाटकों की इस परिक्रमा से नाटक की

१. शरद जोशी : दो व्यंग्य नाटक, पृ० २२।
२. धर्मयुग : ६ फरवरी १९७७, पृ० १२।
३. राजेश जैन : चिन्दी मास्टर, पृ० ७।

व्यंग्य-क्रिया में विश्वास जगता है। लक्ष्मीकांत वैष्णव, के० पी० सक्सेना, अरुण रंजन, रमेश उपाध्याय, सुरेश चन्द्र शुक्ल चन्द्र, रघुराज दीक्षित, विलास गुप्ते, हरि मेहता, वसंत कुमार जैसे लोगों की एक लम्बी सूची तैयार की जा सकती है, जो हिन्दी में व्यंग्य नाटक को पल्लवित करने के लिए प्रयत्नशील हैं। यह व्यंग्य नाटक की रचनात्मक एवं सम्प्रेषणात्मक शक्ति का ही असर है कि हरिशंकर परसाई के व्यंग्य उपन्यास 'रानी नागफनी की कहानी' और श्रीलाल शुक्ल के श्रेण्य व्यंग्य उपन्यास 'राग दरबारी' का व्यंग्य नाटक के रूप में नाट्यान्तरण क्रमशः 'लँगड़ी टाँग' और 'रंगनाथ की वापसी' नाम से हो चुका है। हिन्दी व्यंग्य नाटकों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनका कथ्यफलक राजनीतिक कपट पर ही प्रधानतया केन्द्रित है। डा० जयदेव तनेजा ने शंका उठाई है कि हमारे अधिकांश राजनीतिक-सामाजिक व्यंग्य नाटकों में प्रायः गहरी समझ सूक्ष्म विश्लेषण तथा अंतर्दृष्टि का अथवा उसे समग्रता से सम्प्रेषित करने वाली कला का अभाव होता है।[1] आवश्यकता इस बात की है कि व्यंग्य नाटक के नए-नए आलम्बनों को स्वीकार किया जाय, शैली और संरचना के नए-नए परिप्रेक्ष्यों को पूरी समझदारी के साथ स्वीकार किया जाय। तभी व्यंग्य नाटक का सर्जनात्मक संकल्प पूर्णकाम हो सकेगा, परिवेश व्यंग्य के तमाचे को संवेदनात्मक स्तर पर महसूस कर सकेगा।

• • •

१. आजकल : दिसम्बर १९८०, पृ० ९।

अध्येता शब्द कोश : सिद्धांत और प्रक्रिया (हिन्दी के विशेष संदर्भ में)

डा० सीताराम शास्त्री
प्रभारी, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, हैदराबाद केन्द्र, हैदराबाद

*

विविध स्तरीय शब्दों के चयन और उनकी व्याख्या की विशिष्टता के आधार पर शब्द कोशों के अनेक प्रकार होते हैं। भाषा-भेद से एक भाषी कोश, द्विभाषी कोश, बहुभाषी कोश आदि कोशों के भेद होते हैं। विशिष्ट उद्देश्यों और लक्ष्यों के अनुरूप भी शब्द कोश अनेक रूपों में निर्मित होते हैं। जैसे—Reader's Dictionary, Learner's Dictionary, Student Dictionary आदि-आदि। प्रस्तुत लेख का "अध्येता कोश" का विषय इसी वर्ग के अन्तर्गत आता है।

"अध्येता कोश" क्या है ? अंग्रेजी भाषा में इस प्रकार के कोशों का निर्माण विपुल मात्रा में हुआ है। हिन्दी कोश निर्माण में इस प्रकार की परम्परा अभी प्रारम्भिक दशा में ही है। संक्षिप्त कोश, लघु कोश, व्यावहारिक कोश जैसे नामों से कतिपय कोशों का निर्माण अवश्य हुआ है, लेकिन इनके निर्माण में कोई विशेष सिद्धान्त या प्रक्रिया का समावेश न होने से ये उद्देश्य केन्द्रित, विश्वसनीय एवं उपयोगी कोश नहीं बन सके।

"अध्येता कोश" एक सापेक्षित नाम है। सामान्यतः किसी भाषा विशेष को सीखने वालों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर लिखा गया कोश "अध्येता कोश" कहलाता है। अध्येता कई प्रकार के होते हैं—प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चस्तरीय। इन स्तरों को ध्यान में रख कर शब्द संकलन और शब्द चयन में विशिष्टता बरतते हुए शब्दार्थ, शब्द प्रयोग, शब्द-निर्माण, शब्दों का व्याकरण आदि की व्यवस्था में सीमा निर्धारण करना पड़ता है। प्रथामिक, माध्यमिक या उच्च स्तरीय अध्येता कितने शब्द, कितने अर्थ, कितने प्रयोग या व्याकरण की अपेक्षा करते हैं यह कहना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इस गुरूतर कार्य के लिए व्यापक अनुसन्धान कार्य करने की आवश्यकता है।

"अध्येता कोश" के सिद्धान्त और प्रक्रिया को समझने के लिए सैद्धान्तिक पुस्तकें पढ़ने की अपेक्षा उन कोशों का अध्ययन करना अधिक उपयोगी होगा जो किन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित हैं।

आगे हम अध्येता कोश की सीमा में आने वाले कुछ लोकप्रिय अंग्रेजी कोशों का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। यह अध्ययन द्विस्तरीय होगा। १. कोश निर्माण की प्रक्रिया और २. प्रविष्टियों की रचना प्रक्रिया।

THE ADVANCED LEARNER'S DICTIONARY OF CURRENT ENGLISH

(क) कोश निर्माण की प्रक्रिया :

भूमिका भाषा और परिशिष्ट में इन बातों का उल्लेख किया गया है—

१. इंग्लैण्ड और अमेरिका के सुशिक्षित नागरिकों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली—२०वीं शताब्दी में।

२. सामान्य प्रयोजनों की शब्दावली के अलावा कुछ Archair आर्ष शब्द जो सरल साहित्यिक रचनाओं से सम्बन्धित होते हैं, भी लिए गये हैं।

३. पत्र-पत्रिकाओं में प्रयुक्त वैज्ञानिक तथा तकनीकी बहु प्रयुक्त शब्द भी लिये गये हैं।

४. लेखकों द्वारा प्रयुक्त विदेशी शब्द लिये गये हैं।

५. सरल और समुचित परिभाषाएँ दी गई हैं।

६. लगभग १,००० चित्र और आरेख दिये गये हैं।

७. व्याकरणिक शब्द उनके उदाहरणों से समझाये गये हैं।

८. अंग्रेजी वाक्य-रचना के मार्ग दर्शन के लिए क्रिया-साँचे (२५) उदाहरण सहित समझाये गये हैं।

९. परिशिष्ट में ये सूचनाएँ दी गयी हैं—

(क) क्रियाओं (Irrgegular) की रूपावली।

(ख) सामान्य संकेत चिह्न (Abbrivations)।

(ग) माप-तोल }
(घ) सिक्के } से सम्बन्धित शब्दावली।

(ङ) पानी के जहाज, हवाई जहाज, मोटर कार से सम्बन्धित शब्दावली।

(च) खेल-कूद से सम्बन्धित शब्दावली।

(छ) संगीत से सम्बन्धित शब्द।

टिप्पणी—तीन बातों की चर्चा नहीं की गई है—१. यह कोश किनके लिये है। Advanced शब्द से संकेत मिलता है कि स्नातक और स्नातकोत्तर अध्येता इसका उपयोग करेंगे। २. शब्द संकलन सन्दर्भ दिये गये हैं, लेकिन शब्द चयन की प्रक्रिया नहीं दी गयी है। ३. शब्द संख्या नहीं दी गयी है। इसमें लगभग २०,००० शब्द होंगे।

(ख) प्रविष्टियों की रचना-प्रक्रिया :

भूमिका में प्रविष्टियों के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

१. मुख्य शब्द एकल और संयुक्त दोनों में हैं।

२. मुख्य शब्द के व्युत्पादित (Derivatives) और संयुक्त शब्द दिये गये हैं।

३. मु० श० में अक्षरों को अलग बताया गया है।

४. भिन्न व्याकरणिक कोटियों के आधार पर और असम्बद्ध अर्थ के आधार पर समान वर्तनी के शब्द अलग-अलग प्रविष्टि में रखे गये हैं।

५. उच्चारण दिया गया है। (मुख्य शब्द और व्युत्पन्न शब्द में)।

६. संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, क्रिया विशेषण, विशेषण आदि दिये गये हैं।

७. मु० श० की परिभाषाएँ दी गयी हैं।

८. उदाहरण-वाक्यांश या वाक्यों में दिये गये हैं।

९. अर्थ भिन्नता को १, २, ३ से बताया गया है।

१०. संरचनात्मक शब्दों को विशेषण, सर्वनाम, संज्ञा, क्रियाविशेषण आदि व्याकरणिक अर्थों में समझाया गया है।

११. मुख्य शब्द के मुहावरे, सहप्रयोग आदि समझाए गये हैं।

१२. वर्तनी, उच्चारण और बलाघात की विशेष व्यवस्था।

१३. शब्दों के शैलीगत मूल्यों का संकेत किया गया है।

१४. शब्दों के एकवचन-बहुवचन का संकेत किया गया है।

१५. प्रविष्टियों में प्रयुक्त संकेत चिह्नों का पारिभाषिक शब्दों को और क्रिया साँचों को भूमिका में समझाया गया है।

OXFORD STUDENT'S DICTIONARY OF CURRENT ENGLISH

(क) कोश निर्माण की प्रक्रिया :

भूमिका में और परिशिष्टों में इन बातों का उल्लेख किया गया है—

१. प्रथम भाषा और दूसरी भाषा सीखने की प्रक्रिया में शब्द ज्ञान भाषा के अधिगम और भाषा के अध्ययन में भेद।

२. सीमित ज्ञान शब्दावली (Known limitted defining vocabulary) के माध्यम से शब्दार्थ समझाना।

३. मुख्य शब्द के वचन बताना।

४. कोश में कुल ३५,००० शब्द हैं। इनके अर्थ समझाने के लिए ५०,००० उदाहरण वाक्य दिये गये हैं।

५. यह कोश इंटरमीडिएट के अध्येताओं के लिए है।

६. परिशिष्टों में ये सूचनाएँ दी गयी हैं—

(क) Irregular Verbs की रूपावली।

(ख) सामान्य संकेत-चिह्न।

(ग) संख्या, नाप-तोल के शब्द।

(घ) विराम चिह्न।

(ङ) पुस्तक में प्रयुक्त संकेत-चिह्न।

टिप्पणी—शब्द संकलन और शब्द चयन की प्रक्रिया नहीं बतायी गई हैं।

(ख) प्रविष्टियों की रचना :

१. मुख्य शब्द : क्रमशः आक्षरिक विभाजन, उच्चारण और व्याकरण।

२. सामान्य परिभाषाएँ और उदाहरण।

३. शैली संकेत।

४. क्रिया पदबंधों पर विशेष प्रकाश।

५. अमेरिकी उच्चारण और वर्तनी का संकेत।

६. विशेषणों के "तर", "तम" रूप।

७. मुहावरेदार अभिव्यक्तियाँ।

८. मुख्य शब्दों से व्युत्पन्न शब्द ।

९. संकेत और प्रतीकों का प्रयोग ।

टिप्पणी—एक भी चित्र नहीं है ।

AN INTERNATIONAL READER'S DICTIONARY

(क) कोश निर्माण की प्रक्रिया :

भूमिका में इन बातों की चर्चा की गई है—

१. विशेषकर विदेशियों के लिए लिखा गया है ।

२. कुल २४,००० मुख्य शब्द के अर्थों की व्याख्या । इनमें १८,००० शब्द और ६,००० मुहावरे सम्मिलित हैं ।

३. अध्येताओं से पूर्व ज्ञात १४९० शब्दों से शब्दार्थ और प्रयोग समझा गया है ।

४. विदेशियों के लिए कठिन शब्दों पर विशेष बल ।

५. रेडियो, दूरदर्शन, समाचार पत्रों में प्रयुक्त सामान्य पारिभाषिक शब्दों को लिया गया है ।

६. खास-खास व्युत्पादक और संयुक्त शब्द ही लिये गये हैं ।

७. अमेरिकी अभिव्यक्तियों और गँवार (Slang) शब्दों पर विशेष बल ।

८. उच्चारण और बलाघात की निर्देशिका ।

९. परिशिष्ट में ये सूचनाएँ दी गयी हैं—

(क) Defining Vocabulary की सूची ।

(ख) नाप-तोल के शब्द ।

टिप्पणी—२४,००० शब्दों के चयन की प्रक्रिया नहीं बतायी गयी है। १,४०० शब्दों के आधार पर क्या है ? इसका स्पष्टीकरण नहीं है । प्रविष्टियों की व्यवस्था पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है । किस स्तर के अध्येताओं के लिए है, यह भी स्पष्ट नहीं है। माध्यमिक स्तर के छात्र इसका उपयोग कर सकते हैं ।

PROGRESSIVE ENGLISH DICTIONARY

(क) कोश निर्माण की प्रक्रिया :

भूमिका में और परिशिष्ट में इन बातों की चर्चा की गयी है—

१. उच्च प्राथमिक या निम्न माध्यमिक अध्येताओं के लिए सम्पादित ।

२. अध्येताओं को शब्दों के अर्थ और व्याकरण का बोध होता है ।

३. कुछ ही वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दों के सामान्य अर्थ । परिभाषाएँ नहीं ।

४. कोश में प्रयुक्त संकेत चिह्नों की सूची ।

५. परिशिष्ट में सूचनाएँ—

(क) सामान्य उपसर्ग और प्रत्यय ।

(ख) सामान्य संकेत-शब्दावली ।

टिप्पणी—शब्दों की संख्या और उनके चयन की जानकारी नहीं दी गयी है । इसमें लगभग १०,००० शब्द होंगे ।

(ख) प्रविष्टियों की रचना-प्रक्रिया :

भूमिका में इनका संकेत किया गया है—

१. मुख्य शब्द के विभिन्न अर्थों को अलग-अलग परिभाषा और उदाहरण दिये गये हैं।

२. समान वर्तनी किन्तु असम्बद्ध अर्थों के लिए शब्दों की अलग-अलग प्रविष्टि।

३. बलाघात आदि चिह्नों का प्रयोग।

४. चित्रों और उदाहरण वाक्यों का प्रयोग।

५. व्युत्पन्न शब्द दिये गये हैं।

टिप्पणी—शब्दों की आक्षरिक व्यवस्था नहीं दी गई है।

उक्त अध्ययन का सारांश :

उल्लेखित चारों कोशों की सामान्य विशिष्टताएँ इस प्रकार हैं—

१. चारों कोश उद्देश्य केन्द्रित हैं क्रमशः उच्च, इंटरमीडिएट, माध्यमिक तथा उच्च प्राथमिक स्तरीय अध्येताओं के उपयोगार्थ सम्पादित हैं।

२. लगभग इनके लक्ष्य भी निर्धारित हैं। मुख्य शब्द (प्रविष्टि) और व्युत्पन्न शब्द तथा मुहावरेदार प्रयोगों की संख्या स्तर के अनुरूप निश्चित करने का प्रयास किया गया है।

३. शब्दों की परिभाषा या अर्थ समझाने के लिए सरल एवं ज्ञात शब्दों का ही प्रयोग किया गया है।

४. स्तर के अनुरूप ही शब्द की व्याख्या की गयी है। व्युत्पन्न शब्द, संयुक्त शब्द तथा मुहावरों की संख्या भी मर्यादित है।

५. सभी ने आधारभूत या सामान्य शब्दावली के साथ-साथ रेडियो, दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकाओं आदि में प्रचलित लोकप्रिय वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली भी ली गयी है। इनका चयन स्तरानुरूप ही किया गया है।

६. कोश संख्या दो को छोड़कर चित्रों का प्रयोग अति आवश्यक स्थानों पर ही किया गया है।

७. प्रविष्टियों में स्तर के अनुरूप ही जानकारी दी गयी है। शब्द का उच्चारण, बलाघात, व्याकरण, व्युत्पन्न शब्द, मुहावरे आदि सभी में दिये गये हैं। अर्थों की व्यापकता और उदाहरणों की प्रचुरता प्रथम कोश में द्रष्टव्य है। इसमें शब्दों की परिभाषाएँ और व्याख्याएँ तथा सह प्रयोग की विविधता अनुकरणीय है।

अध्येता हिन्दी शब्द कोश :

प्रारम्भ में जैसे संकेत किया है, हिन्दी कोश निर्माण परम्परा में अध्येता कोशों की संकल्पना अपेक्षाकृत नूतन है। इनके वैज्ञानिक निर्माण के लिए हमें बहुत कुछ सीखना है, इसी उद्देश्य से हमने ऊपर कुछ लोकप्रिय अध्येता अंग्रेजी कोशों का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। हिन्दी भाषा की प्रकृति और स्वरूप को ध्यान में रखते हुए अध्येताओं के स्तर और आवश्यकताओं के अनुरूप कोश के निर्माण में उक्त सर्वेक्षण से मार्ग दर्शक निर्देश प्राप्त कर सकते हैं।

अध्येता कोश अपनी प्रकृति तथा स्वरूप में शैक्षणिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्मित एक प्रयोजन मूलक तथा लक्ष्य केन्द्रित सम्पादन है। इसका सम्पादन वस्तुतः एक अनुस्तरीय

क्रम में होना चाहिए। ऊँचे स्तर का मर्यादित या नियंत्रित कोश का निर्माण माध्यमिक और प्राथमिक कोश की व्यवस्था से जुड़ा हुआ होता है। क्योंकि नीचे के कोश ऊपर के कोशों के निर्माण में बचत की सम्भावनाएँ पैदा करते हैं और उनके अध्ययन में सहयोग देते हैं। इस दृष्टि से तीन स्तरीय अध्येता कोशों का निर्माण हो सकता है—

१. प्राथमिक अध्येता हिन्दी शब्द कोश। इसमें—

(१) लगभग १०,००० शब्द हों। इनसे व्युत्पन्न, सम्भाव्य पदबन्धों और मुहावरों का बीस प्रतिशत संख्या का इसमें समावेश हो।

(२) अर्थ समझाने के लिए यथास्थान चित्र, पर्याय-विलोम और परिभाषाएँ दी जाएँ। चित्रों की व्यवस्था पर विशेष बल दिया जाए।

२. माध्यमिक अध्येता हिन्दी शब्द कोश। इसमें—

(१) लगभग बीस से तीस हजार तक शब्द हों। इनसे व्युत्पन्न, सम्भाव्य पदबन्धों और मुहावरों की ६० प्रतिशत संख्या का इसमें समावेश हो।

(२) अर्थ समझाने के लिए आवश्यकतानुसार परिभाषाएँ, चित्र और पर्याय, विलोम का प्रयोग किया जाए। पर्यायवाची शब्दों और परिभाषाओं पर विशेष ध्यान दिया जाए।

३ उच्चतरीय अध्येता हिन्दी शब्द कोश। इसमें—

(१) लगभग ४० से ५० हजार शब्द हों। इनसे व्युत्पन्न पदबन्धों और मुहावरों का ७५ प्रतिशत संख्या का इसमें समावेश हो।

(२) अर्थ समझाने के लिए परिभाषाएँ, पर्याय, विलोम, चित्र-आरेख आदि का प्रयोग हो। परिभाषाओं पर विशेष ध्यान दिया जाए।

उक्त तीनों कोशों में यदि सह सम्बन्ध रखा जाए तो निर्माण का कार्य वैज्ञानिक तथा बोधगम्य हो सकता है। किसी भी कोश निर्माण की परियोजना में इस क्रम का ध्यान रखा जाए तो कोश निर्माण के इतिहास में अपना एक अपूर्व देन होगी।

आगे हम उक्त तीनों कोशों के निर्माण के लिए सिद्धान्त और प्रक्रिया की एक विस्तृत रूप-रेखा प्रस्तुत कर रहे हैं। कोश के स्तर के अनुरूप इसके किसी अंश को स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है।

(क) सामान्य सिद्धान्त :

१. कोश का उद्देश्य, प्रयोजन और लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए। प्रयोक्ता की आवश्यकताओं का उल्लेख होना चाहिए।

२. शब्द संकलन—शब्दों का संकलन सर्वेक्षण के आधार पर होना चाहिए। प्राप्त आधारभूत शब्दावली को यथावत लेना चाहिए। विभिन्न प्रसंगों का अध्ययन कर सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं दार्शनिक शब्दों का संग्रह करना चाहिए। ये प्रसंग ऐसे समाज से चुने जाएँ, जहाँ खड़ीबोली बोली जाती है। जहाँ का उच्चारण और प्रयोग मानक माने जाते हैं। शिक्षित व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त अपभाषा (स्लैंग) के शब्द लिए जा सकते हैं। साहित्यिक शब्दों के लिए बीसवीं शती में लिखित खड़ी बोली को ही आधार बनाएँ। वैज्ञानिक, तकनीकी, वाणिज्य-व्यापार, राजनीति, अर्थनीति की शब्दावली के लिए पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो दूरदर्शन, फिलम आदि जन प्रसार माध्यमों का सर्वेक्षण किया जाए।

३. शब्द चयन—प्राथमिक अध्येता कोश के लिए आधारभूत शब्दावली को आधार माना जा सकता है। अन्य शब्दावली का चयन स्तर और आवश्यकताओं को ध्यान में रख

कर किया जाना चाहिए। बोलियों के शब्द नहीं लिये जाने चाहिए। शब्द प्रचलित होने चाहिए।

(ख) प्रविष्टियों की रचना-प्रक्रिया :

प्रविष्टि में मुख्य शब्द एक शब्द, प्रत्यय या संयुक्त शब्द हो सकता है। कोश निर्माण में यही मुख्य शब्द केन्द्र या लक्ष्य होता है। इसके सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी देना कोश का कार्य है। स्तर के अनुरूप मुख्य शब्द के बारे में आधुनिकतम कोश, विशेषकर सम्प्रेषण या प्रयोग प्रमुख कोशों में, निम्नलिखित क्षेत्रों की सूचना की अपेक्षा की जाती है—

१. मानक वर्तनी और उच्चारण।
२. व्याकरणिक कोटि।
३. अर्थ की व्यापकता या आर्थी संकल्पनाएँ।
४. अन्योन्य सन्दर्भ या अर्थ क्षेत्रों का सह सम्बन्ध।
५. व्युत्पादक शक्ति।
६. पदबन्धीय निर्माण की क्षमता।
७. विविध प्रयोग या प्रयोग क्षेत्र।
८. सांस्कृतिक सन्दर्भ।

आगे हम तालिका में कुछ नमूने की प्रविष्टियाँ या मुख्य शब्द लेकर इन क्षेत्रों से सम्बन्धित सूचनाएँ स्पष्ट करेंगे—

क्षेत्र	मुख्य शब्द	सूचनाएँ	टिप्पणी
१. वर्तनी	चाहिए	चाहिये	भिन्न वर्तनी कोष्ठक में बतायी जानी चाहिए।
उच्चारण	चाहिए	चा-हि-ए	अक्षरों को तोड़कर शुद्ध उच्चारण दिखाया जा सकता है।
२. व्या०कोटि	चाहिए	१. क्रिया स० (चाहना) २. अव्यय	इसी प्रकार व्युत्पन्न शब्द/पदबन्ध का व्याकरण भी बताना चाहिए।
३. अर्थ-क्षेत्र	खोज	१. सं० शोध, अनुसन्धान २. क्रि० ढूँढ़ (ना) तलाश छुपाना	पर्यायवाची विलोमवाची
	सुन्दर	दिमाग या इन्द्रियों को खुशी या आनन्द देने वाली वस्तु	परिभाषा (विश्लेषणात्मक)
	छूना	स्पर्श की क्रिया या घटना	परिभाषा (वर्णनात्मक)

क्षेत्र	मुख्य शब्द	सूचनाएँ	टिप्पणी
	कँगारू	आस्ट्रेलियाई जन्तु जो अपने पिछले मजबूत पैरों के बल पर कूदता है। मादा के पेट पर बच्चों को उठाने के लिए थैली होती है।	परिभाषा के साथ चित्र देना चाहिए।
४. अर्थ क्षेत्रों का सहसंबंध	व्यथा	पीड़ा, दर्द, (दे० दुःख)	अन्योन्य सन्दर्भ। समान दीखने वाले शब्दों में अर्थ भेद। **नोट**—अर्थ क्षेत्र के सभी स्तरों पर प्रचुर भाषिक उदाहरण देने चाहिए।
५. व्युत्पत्ति	१. सुख	१. ~दायक, २. ~प्रद, ३. ~कर, ४. ~सुखी (वि)	मुख्य शब्द को बार-बार न दुहराएँ। व्याकरण कोटि लिख कर अर्थ और उदाहरण दें।
	२. कडुवा	१. ~ हट, २. ~ पन (स)	
६. पदबन्ध	१. गिरना	१. गिर पड़ (ना) २. गिर जा (ना)	क्रिया पदबन्ध। इनके अर्थ और उदाहरण देने चाहिए।
	२. प्रकांड	~ पंडित, ~ विद्वान	संज्ञा पद बन्ध। इनके अर्थ देने चाहिए।
७. प्रयोग	१. खींचना	खींच-खाँच	पुनरुक्ति—क्रिया
	भूलना	भूल-भाल	पुनरुक्ति—क्रिया
	काम	काम-काज	पुनरुक्ति—संज्ञा
	घर	घर-बार	पुनरुक्ति—संज्ञा
	लंबा	लंबा-चौड़ा	पुनरुक्ति—विशेषण
	कुछ	कुछ का कुछ	पुनरुक्ति—विशेषण
	जहाँ	जहाँ-तहाँ	पुनरुक्ति—क्रिया-विशेषण
	क्या	क्या से क्या	पुनरुक्ति—अव्यय इन सबको अनेक उदाहरण देकर समझाना चाहिए।
	२. हिनहिनाना	घोड़ा हिनहिनाता है	सह प्रयोग/क्रिया + कर्त्ता
	ठनकाना	माथा ठनकता है	,, ,,
	चमचमाना	गहने चमचमाते हैं	,, ,,

क्षेत्र	मुख्य शब्द	सूचनाएँ	टिप्पणी
	उदार	उदार मनुष्य	सह प्रयोग/विशेषण + विशेष्य
	ताज़ा	ताज़ा भात	,, ,,
	चंदा	चंदा माँगना	सह प्रयोग/संज्ञा + क्रिया
	जवाब	जवाब देना	,, ,,
	आना	आ धमकना	सह प्रयोग/क्रिया + क्रिया
	धरना	धर पकड़ना	,, ,,
३.	टोपी	~ उछालना	मुहावरा संज्ञा + क्रिया
	टेढ़ी	~ खीर	मुहावरा विशेषण + संज्ञा
	लाल	~ पीला (होना)	मुहावरा विशेषण + विशेषण
	आगे	~ पीछे (होना)	मुहावरा अव्यय + अव्यय
	ऊँचा	~ सुनना	मुहावरा अव्यय + क्रिया सभी मुहावरों के अर्थ और उदाहरण देने चाहिए।
८. सांस्कृतिक सन्दर्भ	पगड़ी	वह लम्बा कपड़ा जो सिर पर लपेटकर बाँधा जाता है।	खाने-पीने-पहनने-ओढ़ने-संगीत-नाटक आदि से सम्बन्धित शब्दावली की सचित्र व्याख्या की जानी चाहिए।
	साड़ी	स्त्रियों के पहनने की धोती।	
	लड्डू	गोले बनी हुई मिठाई।	
	पूरी	एक प्रसिद्ध पकवान जिसे रोटी की तरह बेल कर खौलते घी में तल लेते हैं।	

अध्येता कोश सम्प्रेषण कोश या प्रयोग प्रमुख कोश माना जाता है। शब्दार्थ बोध के साथ-साथ भाषायी व्यवहार की क्षमता या भाषायी प्रजनक शक्ति के विकास की सम्भावनाएँ इसमें होती हैं। इसलिए पूर्वोक्त तीन अध्येता कोशों की प्रविष्टियों को स्तर के अनुरूप विशद बनाने की दृष्टि ऊपर अर्थ सामग्री और प्रयोग सामग्री के कुछ नमूने दिये गये हैं। ये सुझाव मात्र हैं। कोश निर्माण कार्य से सम्बन्धित और अनेक बातें हैं जो शब्दार्थ स्पष्टकरण और आर्थी सह सम्बन्ध से जुड़ी हुई हैं।

विचारार्थ कुछ बातें ये हैं—

१. समस्वनता (Homophony) और समवर्णता (Homography) का आर्थी सम्बन्ध।

२. बोल-चाल, साहित्य, साहित्य शास्त्र, विज्ञान आदि में प्रयुक्त शब्दों पर लेबल लगाना।

३. अर्थ-क्षेत्र को निर्मित करने वाले शब्द-समूह।

४. आंशिक पर्यायों की अर्थी स्थिति।

५. शब्द बलाघात की वास्तविक स्थिति।

उच्च स्तर के अध्येता कोशों को वैज्ञानिक और विशद बनाने के लिए उक्त बातों पर विचार किया जा सकता है।

कोश प्रयोग की निदेशिका :

भूमिका में कोश के निर्माण से सम्बन्धित बातों की चर्चा काफी पुरानी है। कभी-कभी प्रयोग की विधि की सामान्य चर्चा भी की जाती है। अध्येता कोशों में इस प्रकार की चर्चा में मात्रात्मक और गुणात्मक परिवर्तन की आवश्यकता है। पूर्वोक्त अध्येता कोश इस परिवर्तन के लिए मार्गदर्शक है। विशेषकर उच्चतर (प्रथम) कोश की भूमिका इस सन्दर्भ में अनुकरणीय है।

आज की कोश निर्माण की मान्यता के अनुसार व्याकरण कोश से अलग नहीं होना चाहिए। कोश के प्रयोग के लिए शब्दावली क़ी संरचनात्मक पक्ष का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए प्रविष्ट सामग्री को समझने के लिए रूपावली (Paradigmatic) सम्बन्धी और विन्यासक्रमातमक (Syntegmatic) व्याकरणिक अंशों को सूत्रों में या तालिकाओं में सोदाहरण भूमिका में समझाया जाता है। (देखिए पूर्वोक्त कोश प्रथम) हिन्दी के व्याकरणिक ढाँचे को देखते हुए विविध स्तरीय कोशों में आवश्यकतानुसार अधोलिखित निर्देशिका दी जा सकती है—

१. हिन्दी शब्दावली की आक्षरिक व्यवस्था।

२. उच्चारण और लेखन में सम्बन्ध।

३. अनुस्वार, अनुनासिकता और पंचमाक्षर के उच्चारण की व्यवस्था।

४. संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण की रूपावली के सूत्र।

५. क्रिया पदबन्धों की रचना (मिश्र और संयुक्त क्रिया)।

६. उपसर्ग और प्रत्यय (परिशिष्ट में)।

७. क्रिया की प्रवृत्तियाँ।

निश्चय ही शब्द कोश व्याकरण ग्रन्थ नहीं है। लेकिन यह भी सच है कि व्याकरणिक धारणाओं और संकल्पनाओं को बिना जाने अध्येता कोश का न निर्माण सम्भव है और न प्रयोग।

मार्गदर्शक ग्रन्थ और लेख

1. Hornby, A S. : "The Advanced Learners Dictionary of Current English." 1971, Oxford University Press.

2. Hornby, A. S. : "Oxford Students Dictionary of Currrnt English " 1978, Oxford University Press.

3. West, Michel : "An International Reader's Dictionary." 1975, ELBS and Longman group limited.

4. Hornby, A. S. : "The Progressive English Dictionary." 1970, Oxford University Press.

5. Hirsh, E. R. : "First Dictionary" 1973, Young Readers Press, N. Y.

6. Frisby, A. W. : "Pocket English Dictionary." A First learning Dictionary, Longman.

7. C. I. I. L. : "National Conference on Dictionary making in Indian Languages" 1970, C. I. I. L., Mysore.

8. Zqusta, Ladislav : "Manual of Lexicography." 1971, Mouton.

9. Palmer, F. R. : "Semantics" A new out live, 1977, Cambridge University Press.

10. Ogden, C. K. : "The meaning of meaning" 1946, A Harvest Book, Harcourt, Brace and World, Inc. N. Y.

११. वर्मा रामचन्द्र : "संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर" १९७१, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

१२. शास्त्री सीताराम : "उर्दू-हिन्दी प्रदेश कोश" १९७४, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा।

१३. शास्त्री सीताराम : "हिन्दी शब्दावली और प्रयोग" कार्य-पुस्तक १, १९७६, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा।

१४. शास्त्री सीताराम : "हिन्दी शब्दावली और प्रयोग" कार्य-पुस्तक २, १९७६, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा।

१५. शास्त्री सीताराम : "उर्दू-हिन्दी व्यवहार कोश : शब्द संकलन और चयन की समस्या" १९७८ (लेख—साइक्लोस्टाइल्ड)।

१६. सिंह, अमरबहादुर : "प्रविष्टियाँ और सूचनाएँ" १९७८ (लेख—साइक्लोस्टाइल्ड)।

१७. सुरेश कुमार : "हिन्दी शब्द कोश में अर्थ प्रकटन की कुछ समस्याएँ" १९७८ (लेख—साइक्लोस्टाइल्ड)।

१८. रोहरा, सतीश कुमार : "कोश : प्रकृति एवं प्रक्रिया" १९७८ (लेख—साइक्लोस्टाइल्ड)।

१९. सिंह, सूरजभान : "हिन्दी-उर्दू कोशों में अर्थ क्षेत्र और सह प्रयोग की संकलपना" १९७८ (लेख—साइक्लोस्टाइल्ड)।

२०. ठाकुरदास : "हिन्दी कोशों में व्युत्पत्ति निर्देश" १९७८ (लेख—साइक्लोस्टाइल्ड)।

• • •

हिन्दी-निर्माता राजा लक्ष्मण सिंह के पत्र

डा० मंजु सक्सेना, एम० ए०, पी-एच० डी०
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

*

हिन्दी साहित्य के इतिहासकार अब तक समकालीन ऐतिहासिक अभिलेखों का, सम्बन्धित इतिहास ग्रन्थों में उपयोग नहीं कर पाये हैं और न इन्होंने ऐतिहासिक अभिलेखों की खोज पर ध्यान ही दिया है। यही कारण है कि हमारे साहित्यकारों के विवरण अपूर्ण होने के साथ ही प्रायः अप्रामाणिक भी हैं। आश्चर्य है कि कथित इतिहासकारों ने बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ और आगरा जैसे प्रमुख नगरों में अपने समीप के सम्बन्धित व्यक्तियों के पास पड़ी हुई ऐतिहासिक सामग्री को भी कभी देखने का कष्ट नहीं किया। हमारी अधावधि रही हुई उपेक्षा के कारण ही ऐसी महत्वपूर्ण सामग्री अधिकांश में नष्ट हो चुकी है। हिन्दी साहित्य के प्रामाणिक इतिहास-लेखन के लिए इस प्रकार की सम्पूर्ण ऐतिहासिक सामग्री के सर्वेक्षण, संग्रह, संरक्षण अध्ययन और प्रकाशन की नितान्त आवश्यकता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल की सामग्री एकत्रित करने हेतु देश के अनेक दूरवर्ती स्थानों की कठिन यात्रायें करनी पड़ीं। प्रसन्नता और सन्तोष का विषय है कि मुझे इस विषय में अब तक अप्रकाशित और महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हो चुकी है।

राजा लक्ष्मण सिंह के पौत्र ठाकुर लाखन सिंह और प्रपौत्र भूपेन्द्र सिंह के पास इनके आगरा निवास पर जिसको बड़ी हवेली कहा जाता है, पहुँची तो दोनों से साक्षात्कार हुआ। इन्होंने इतिहास लेखन सम्बन्धी मेरे मन्तव्य को समझकर बड़ी प्रसन्नता से अपने पास की समस्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री मेरे अध्ययन के लिए उपलब्ध करा दी। मुझे प्राप्त इस सामग्री में राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा अपने पुत्र कुंवर कन्हई सिंह को लिखे हुए तथा अनेक देशी तथा विदेशी विद्वानों द्वारा राजा साहब के नाम कुल ८४ ऐतिहासिक पत्र हैं। प्रस्तुत नवीन प्रमाणों में फ्रेडरिक पिन्काट जैसे समकालीन हिन्दी प्रेमी के मत की भी सम्पुष्टि होती है कि आधुनिक हिन्दी के निर्माण में राजा लक्ष्मण सिंह का योगदान भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से भी बढ़कर है।

राजा साहब के ज्येष्ठ पुत्र कुंवर कन्हई सिंह आनरेरी मजिस्ट्रेट और छोटे पुत्र महेन्द्र सिंह संयुक्त प्रान्त में उप-जिलाधीश थे। कन्हई सिंह को उर्दू में लिखे हुए लक्ष्मण सिंह के ७९ पत्र प्राप्त हुए हैं। इन पत्रों द्वारा लक्ष्मण सिंह और तत्कालीन भारतीय इतिहास सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक तथ्य प्राप्त होते हैं। इन पत्रों का विवरण और वर्गीकरण इस प्रकार है—

राजा लक्ष्मण सिंह के उर्दू में लिखे हुए पत्रों में से ४ पत्र ऐसे हैं, जिनको दीमक ने खा लिया है और उनका लेख कुछ तो समझने में आता है और कुछ अनुमान लगाने पर भी ठीक समझ में नहीं आता। इन पत्रों में से ३ पत्र ऐसे हैं जिन पर तिथि और उस स्थान का उल्लेख नहीं है जहाँ से वे पत्र लिखे गये। १ पत्र अवश्य ऐसा है जिससे तिथि और सन् का पता चल जाता है परन्तु यह पता नहीं चलता कि यह पत्र कहाँ से लिखा गया। २ पत्रों पर राजा साहब ने अन्त में हस्ताक्षर भी नहीं किये हैं। पत्रों के ढेर में से दीमक से कुछ-कुछ बचे हुए ये पत्र निकाले गये इसलिए इनमें १ पत्र ऐसा भी है जो अधूरा है। उस पर राजा साहब के हस्ताक्षर भी हैं।

दीमक खाये हुए पत्र—४

सारिणी संख्या—१

तिथि व सन् वाला पत्र	बिना तिथि के पत्र	हस्ताक्षर सहित पत्र	बिना हस्ताक्षर के पत्र
१	३	२	२

कुल मिलाकर ७९ पत्र हैं। ये उर्दू की "खते शकिस्त" में अर्थात् घसीट में लिखे हुए हैं। इन पत्रों को देखने से एक और तथ्य ज्ञात होता है कि राजा साहब कभी तो पत्र लिखने की पद्धति को अपना लेते थे और कभी उस पर उनका ध्यान नहीं जाता था। इन पत्रों में १ पत्र ऐसा है जिसकी तिथि और सन् को दीमक खा गयी है तथा २ पत्र बिना तिथि के हैं। ५४ पत्र ऐसे हैं, जिन पर तिथि लिखी हुई है पर न सन् और न स्थान का ही उल्लेख है। ७ पत्रों पर तिथि और स्थान का नाम दिया है परन्तु सन् का उल्लेख नहीं है। ९ पत्र ऐसे हैं जिन पर तिथि और सन् है परन्तु स्थान का नाम नहीं है। १ पत्र ऐसा भी है जिस पर महीने का नाम है परन्तु तिथि नहीं दी हुई है। ४ पत्र अवश्य ऐसे हैं जिन पर तिथि, सन् और स्थान का नाम भी है।

७५ पत्रों का विवरण

सारणी संख्या—२

दीमक खायी हुई तिथि व सन् का पत्र	बिना तिथि के पत्र	केवल तिथि वाले पत्र	तिथि व स्थान के नाम वाले पत्र	तिथि व सन् वाले पत्र	केवल महीने के नाम वाला पत्र	तिथि सन् व स्थान के नाम वाले पत्र
१	२	५४	७	९	१	४

यदि हम जानना चाहें कि राजा साहब ने पुत्र कुंवर कन्हई सिंह को एक महीने में कितने पत्र लिखे तो यह बात बहुत कठिन होगी, क्योंकि राजा साहब अपने पुत्र कुंवर कन्हई सिंह को प्रायः प्रतिदिन एक पत्र लिखते थे और यह भी चाहते थे कि उनके पास भी कन्हई सिंह का प्रतिदिन पत्र प्राप्त हो। मेरे पास पत्र उपलब्ध हैं उनमें से जनवरी के महीने में लिखे हुए ८ पत्र और फरवरी के ३ पत्र ही प्राप्त हो सके हैं। मार्च के महीने के ७ पत्र हैं, अप्रैल के ९, मई के २, जून के ४, जुलाई के ९, अगस्त के ५, सितम्बर के ४, नवम्बर के १३ और दिसम्बर के ७ पत्र हैं।

जिन पत्रों में महीनों के नाम हैं

सारणी संख्या—३

जनवरी	फरवरी	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त	सितम्बर	अक्टूबर	नवम्बर	दिसम्बर
८	३	७	६	२	४	६	५	४	५	१३	७

उपर्युक्त सारिणी को देखने से स्पष्ट है कि राजा साहब ने जो भी पत्र लिखे और जो मुझे प्राप्त हैं उनके द्वारा निम्नलिखित नई सारिणी तैयार की जा सकती है। इस सारिणी संख्या ४ से राजा साहब के लिखे हुए उर्दू के पत्रों का विवरण स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है।

सारिणी संख्या—४

	दीमक खाये हुए पत्र				बिना दीमक खाये पत्र							
	तिथि व सन् वाले पत्र	बिना तिथि के पत्र	हस्ताक्षर सहित पत्र	बिना हस्ताक्षर के पत्र	दीमक खाई हुई तिथि व सन् वाले पत्र	बिना तिथि के पत्र	केवल तिथि वाले पत्र	तिथि व स्थान के नाम वाले पत्र	तिथि और सन् वाले पत्र	केवल महीने के नाम वाले पत्र	तिथि सन् व स्थान के नाम वाले पत्र	बिना हस्ताक्षर के पत्र
	१	३	२	२	१	१	२					
जनवरी							४	२			२	१
फरवरी							३					
मार्च							६				१	१
अप्रैल							७	१	१			२
मई							१	१				
जून							२		१		१	
जुलाई							७	१	१			
अगस्त							५					
सितम्बर							३					
अक्टूबर												
नवम्बर							१०	३				२
दिसम्बर							५	१				२

इन पत्रों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य यह है कि इनमें कोई ऐसा पत्र प्राप्त नहीं हुआ जो अक्टूबर के महीने में लिखा गया हो और यह भी आश्चर्य है कि ६ पत्र १८८० के और ३ पत्र १८८९ के हैं। साथ-ही-साथ १२ पत्र ऐसे भी हैं जिन पर राजा साहब ने अपने हस्ताक्षर नहीं किये हैं।

पत्रों को देखने से एक और बात ज्ञात होती है। प्राप्त पत्रों में से कुछ पत्र ऐसे हैं जो एक ही तिथि के हैं जैसे—२१ जनवरी के दो पत्र, ३ अप्रैल, ६ अप्रैल, २० अगस्त, २१ नवम्बर और १६ दिसम्बर के भी दो पत्र हैं। २४ नवम्बर के तीन पत्र मिलते हैं। इन पत्रों के अध्ययन व लेखन से यह स्पष्ट है कि ये पत्र एक सन् के नहीं हैं, भिन्न-भिन्न सनों के हैं।

इन पत्रों को देखने से एक अन्य तथ्य उभर कर सामने आता है कि इनमें न तो भारतीय प्रथम स्वाधीनता संग्राम (गदर) का उल्लेख है जिसमें राजा साहब ने अंग्रेजों के बच्चों, स्त्रियों व पुरुषों की जान बचाने का भरसक प्रयत्न किया था और न ही इंडियन नेशनल कांग्रेस के कार्यों का ही उल्लेख है जिसके प्रतिष्ठापक ए० ओ० ह्यूम साहब थे जिनको राजा साहब बहुत सम्मान देते थे। कांग्रेस का जन्म दिसम्बर १८८५ में हो गया था। ह्यूम साहब ने राजा साहब को "राजा" की उपाधि दिलाने के लिए भरसक प्रयत्न किया था और कलकत्ता से लिखे हुए एक पत्र में उन्होंने राजा साहब को सूचना दी कि वे गवर्नर जनरल से मिले थे। गवर्नर जनरल ने उन्हें विश्वास दिलाया था कि लक्ष्मण सिंह को बहुत जल्दी ही "राजा" बना दिया जायेगा। ह्यूम ने यह भी लिखा था कि तुम इस बात की सूचना किसी को पहले से नहीं देना। यही ह्यूम साहब राजा साहब के साथ कई स्थानों पर काम कर चुके थे और राजा साहब की ईमानदारी तथा बफादारी की बड़ी प्रशंसा करते थे।

यह आश्चर्य का विषय है कि राजा साहब वैसे तो कन्हई सिंह को घर, गाँव और पैसे के लेन-देन इत्यादि से सम्बन्धित जानकारी निरन्तर देते रहते थे परन्तु उन्होंने इस इंडियन नेशनल यूनियन (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पूर्व नाम) का उल्लेख क्यों नहीं किया जिसके जन्मदाता उनके कृपानिधान ए० ओ० ह्यूम थे। राजा साहब कांग्रेस के सदस्य थे। हो सकता है कि उन्होंने ह्यूम साहब को कांग्रेस की स्थापना में सक्रिय योगदान किया हो।

यह हो सकता है कि मेरे पास उपलब्ध १८८९ तक के पत्रों में इन दोनों बड़ी घटनाओं का उल्लेख न किया हो और जो पत्र दीमक ने खाकर नष्ट कर दिये हों उनमें इन घटनाओं का उल्लेख हो। फिलहाल इन पत्रों से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि राजा साहब एक बड़े जमींदार थे। उन्हें रुपया उधार देने में व प्रथानुसार उस पर सूद लेने में कोई आपत्ति न थी। उन्हें बाग लगाने में बहुत रुचि थी। वे अच्छे घुड़सवार थे। उन्हें अपने सम्बन्धियों से अच्छा सम्बन्ध रखने की चिन्ता रहती थी। वे मित्रों से स्नेह करते थे। निर्धनों की सहायता करना वे अपना पुनीत कर्त्तव्य एवं धर्म समझते थे।

यदि राजा लक्ष्मण सिंह के लिखे हुए पत्र अंग्रेजों के नाम या अपने परिचित लोगों के नाम मिल जाते तो अवश्य मालूम हो सकता था कि राजा साहब पत्र लिखने की पद्धति को अपनाते थे या नहीं। इन पत्रों से तो यही ज्ञात होता है कि वे पत्र लिखने में मनमानी करते थे और यह समझते थे कि वह जिसको पत्र लिख रहे हैं उसे सन् का ज्ञान तो है ही और यह भी ज्ञात है कि वे कहाँ से पत्र लिख रहे हैं।

विदेशी लोगों ने भी राजा साहब को पत्र लिखे हैं। ऐसे पत्रों में से एक पत्र मिस्टर फ्रेडरिक पिन्काट का है। यह पत्र उन्होंने २५ विल्सन रोड, केम्बर वेल, लन्दन से १६ अप्रैल सन् १८८६ को लिखा था। एक दूसरा पत्र मिस्टर जॉन दी प्लेट्स का है यह उन्होंने ५ दि

क्रीसेंट, पार्क टाउन आक्सफोर्ड से १८८६ को लिखा है। तीसरा पत्र मिस्टर ए० ओ० ह्यूम साहब का है यह पत्र उन्होंने कलकत्ता से १८६१ में राजा साहब के नाम इटावा के पते पर भेजा था। मिस्टर ग्राउस ने १८८८ में ११ अक्टूबर को नैनीताल से राजा लक्ष्मण सिंह के नाम पत्र लिखा। रायपुर १८८५ में सी० पी० प्रान्त में था। यहाँ से २४ नवम्बर को ठाकुर जगमोहन सिंह ने राजा साहब के नाम एक पत्र भेजा था।

मुझे इन पत्रों के द्वारा राजा लक्ष्मण सिंह के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण अप्रकाशित नवीन तथ्य प्राप्त हुए हैं—

(१) राजा लक्ष्मण सिंह राठौर क्षत्रिय थे और इनके पूर्वज राजस्थान के निवासी थे। इनका पारिवारिक सम्बन्ध जयपुर के राजा माधो सिंह से था। राजा लक्ष्मण सिंह की शिक्षा और पुरस्कार आदि के विषय में प्रामाणिक जानकारी।

(२) राजा साहब का परिवार कोठियाँ, नौकर, नौकरानियाँ, मित्र, समधियाना, बीमारी, आभूषण, साज-सज्जा, फर्नीचर, व्यक्तिगत स्वभाव, दयालुता, परोपकारिता, अन्ध-विश्वास आदि सम्बन्धी प्रामाणिक विवरण।

(३) विदेशों में राजा लक्ष्मण सिंह को ही उस समय प्रमुख हिन्दी विद्वान और लेखक माना जाता था।

(४) भारतवर्ष में भी राजा लक्ष्मण सिंह की हिन्दी-भाषा-शैली को आदर्श रूप में स्वीकार किया गया जिसका अनुसरण कालान्तर में प्रायः समस्त हिन्दी लेखकों ने किया।

(५) राजा लक्ष्मण सिंह अपने समय के प्रमुख जमींदार थे और पूर्ण सावधानी से जमींदारी की देखभाल करते थे।

(६) राजा लक्ष्मण सिंह एक सम्पन्न रईस थे। हिन्दू और मुसलमान उनसे रुपया उधार लिया करते थे।

(७) राजा लक्ष्मण सिंह बाग लगाने में बड़ी रुचि रखते थे। इसके अतिरिक्त घुड़-सवारी, प्रदर्शनी, त्यौहार, मेला, यात्रा, अधिकारी-सूची देखने और पालतू पशु रखने का उन्हें बहुत चाव था।

(८) राजा साहब को अपने विरोधियों के प्रति सावधानी और उदारता सम्बन्धी प्रामाणिक जानकारी।

(९) राजा लक्ष्मण सिंह का कलकत्ता में नील का व्यापार भी चलता था।

(१०) समकालीन दुष्काल, महामारी, बाढ़ आदि सम्बन्धी प्रामाणिक विवरण के साथ ही अनेक राजनैतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक तथ्यों की जानकारी भी इन पत्रों से उपलब्ध होती है।

• • •

पाठालोचनात्मक शोध प्रणाली : सिद्धांत एवं महत्त्व

रघुनाथ जैन, एम० ए०, एम० फिल०, अमृतसर

*

१.१. पाठालोचना अभिप्राय—पाठालोचन से अभिप्राय उस प्रक्रिया से है, जिसके माध्यम से प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का आधार लेकर कवि के मूलपाठ का निर्धारण किया जाता है। मूलपाठ रचनाकार का अभीष्ट पाठ है और पाठालोचन में इसी की खोज की जाती है।

'पाठालोचन' शब्द आंग्ल शब्द 'टैक्सयुअल क्रिटिसिज़्म' का हिन्दी अनुवाद है, जो पाठ की खोज एवं उसकी आलोचना के कार्य को अभिव्यक्ति देता है। 'पाठ' से अभिप्राय किसी ऐसे हस्तलिखित ग्रन्थ के पाठ से है, जो ज्ञात तो है, परन्तु जिसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के हस्तलिखित पाठों के आधार पर ही कवि के 'मूल-पाठ' तक पहुँचा जा सकता है। विभिन्न विद्वानों ने 'पाठालोचन' को परिभाषित करने का प्रयास किया है 'न्यू एन साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में पाठालोचन को पाठ को मूल रूप से या अधिक से अधिक नज़दीकी रूप में खोज़ने की तकनीक कहा है और इस रूप में पाठ को कागज़ आदि पर विमुद्रित सामग्री से अलग स्वीकार किया है।[१] मानविकी पारिभाषिक कोश' में पाठालोचन का उद्देश्य प्राप्त पाण्डुलिपियों के साक्ष्य से मूल-पाठ का निर्माण कर इस रूप में प्रस्तुत करना कहा है, जिसे अगर चाहें तो जाना जा सके कि पाठ का आधार क्या है? और उसमें सम्पादक का निर्णय कहाँ तक समीचीन है।[२] पोस्टगेट किसी रचना के मूल-पाठ के स्वरूप-निर्धारण के प्रसंग में स्वीकृत निपुण तथा विधि-विहित प्रक्रिया को पाठालोचन कहते हैं।[३] डा० कात्रे पाठालोचन का उद्देश्य किसी हस्तलिखित ग्रन्थ के उपलब्ध-साक्ष्य का निर्वाचन कर मूल प्राचीन ग्रन्थ या ग्रन्थ कर्त्ता के अभीष्ट शब्दों तक पहुँचना

१. 'द न्यू एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' वॉलयम १८ (१५वां संस्करण), पृ० १८९।

२. मानविकी पारिभाषिक कोश : साहित्य खंड, प्रधान संपादक डा० नगेन्द्र (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली : सं० १९६५), पृ० २५२।

३. पोस्टगेट इन कम्पेनियन टूलैटिन स्टडीज़, पृ० ७९१, भारतीय पाठालोचन की भूमिका, डा० एस० एम० कात्रे अनुवादक डा० उदय नारायण तिवारी (मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल : सं० १९७१), पृ० १ से उद्धृत।

मानते हैं।[1] डा० माता प्रसाद गुप्त पाठालोचन का उद्देश्य किसी ऐसी रचना का पाठ-निर्धारण मानते हैं, जिसका उसके लेखक द्वारा प्रमाणीकृत पाठ उपलब्ध नहीं होता।[2]

१.२. निष्कर्ष—स्पष्ट है कि पाठालोचना से अभिप्राय मूल-पाठ को उसके प्रामाणिक या अधिक से अधिक संभावित रूप में चुनने या निर्धारित करने से है। यह पाठालोचन का कार्य तभी प्रारम्भ होता है, जब कविकृत मूल-पाठ प्राप्त नहीं होता। पाठालोचन हमारा ध्यान उन सिद्धांतों एवं विधि-विहित प्रक्रिया की ओर भी आकर्षित करता है, जिससे मूल-पाठ की प्राप्ति होती है।

२. पाठालोचन की आधार सामग्री—पाठालोचन के आधार में हम उस समस्त सामग्री को रख सकते हैं, जिसमें हमें प्राचीन हस्तलिखित पोथियाँ प्राप्त होती हैं। यह सामग्री हमें भूर्जवलक, कर्पासपट, काष्ठपट, ताड़पत्र, धातुपत्र एवं कागज़ पर हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में प्राप्त होती है। इन सब में से कागज़, भोजपत्र एवं ताड़पत्र आदि पर लिखित पोथियाँ ही महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि काष्ठपट, धातुपट, शिलालेख आदि सामग्री दीर्घजीवी है तथा इसमें प्रक्षेपण एवं परिवर्तन का इतना भय नहीं है। इस समस्त सामग्री को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(क) मूल सामग्री, (ख) सहायक सामग्री।

२.१. मूल सामग्री—मूल सामग्री से अभिप्राय लेखक द्वारा लिखी मूल प्रति तथा उससे की जाने वाली आगे की प्रतियों से है। डा० माता प्रसाद गुप्त का कथन है, "जो सामग्री कृति के पाठ को कृति के रूप में ही प्रस्तुत करती है, वह मुख्य सामग्री है। इसके अन्तर्गत कृति की प्रतियाँ आती हैं।"[3] इसका वर्गीकरण कई आधारों पर हो सकता है।.... मूल प्रति के आधार पर—(क) यह कवि द्वारा हस्तलिखित हो सकती है या फिर (ख) कवि प्रति से लिखित एवं कवि द्वारा संशोधित हो सकती है। यह मूल प्रति—(क) समष्टि-मूलक हो सकती है जैसे—'महाभारत' वेद व्यास पीठ द्वारा रचित है। या (ख) यह 'व्यष्टि-मूलक' हो सकती है जैसे—'तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस'।

यह मूल प्रति भी दो प्रकार की होती है.... ......(क) प्रथम प्रति, जिसे कवि सबसे पहले लिखता है, उसमें परिवर्तन एवं संशोधन करके ग्रन्थ का अंतिम रूप से निर्माण करता है। (ख) संशोधित प्रति—प्रथम प्रति में संशोधन एवं परिवर्तन के पश्चात् जब ग्रन्थ पूर्ण रूप से सामने लाया जाता है, तो यह संशोधित प्रति कहलाती है। यह प्रति ही ग्रन्थ का आदर्श एवं यथार्थ रूप होती है। इसी से आगे की जाने वाली प्रति या प्रतियाँ, प्रतिलिपित प्रति या प्रतियाँ कहलाती हैं। यह कविकृत या कवि द्वारा संशोधित नहीं होती, यदि ऐसा हो तो फिर यह मूल प्रति बन जाती है।

२.२. सहायक-सामग्री—यह सामग्री प्रतियों के रूप में नहीं होती। यह कई प्रकार की हो सकती है—

(१) अनुवाद के रूप में प्राप्त सामग्री। यह सामग्री तब और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है, जब वह अनुवाद प्राप्त प्राचीनतम प्रति से भी पूर्व का हो।

(२) प्राचीन टीकाओं के रूप में प्राप्त सामग्री।

१. भारतीय पाठालोचन की भूमिका : डा० एस० एम० कात्रे, अनुवादक डा० उदय नारायण तिवारी (मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल : सं० १९७१), पृ० ३४।

२. 'पाठानुसंधान' डा० माता प्रसाद गुप्त, अनुसंधान की प्रक्रिया : संपादक डा० सावित्री, डा० विजयेन्दु स्नातक नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, (दिल्ली : दि० सं० १९६९), पृ० ७८।

३. उपरिवत्, पृ० ७९।

(३) अन्य ग्रन्थों में मूल हस्तलिखित ग्रन्थों के उद्धरण।

(४) हस्तलिखित ग्रन्थों के अन्य ग्रन्थों में दिए गए संक्षिप्त रूप।

३.१. पाठ विकृति—पाठालोचन का मूल कारण पाठ विकृतियाँ ही हैं। यदि पाठ में विकृतियाँ न हों तो पाठालोचन की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। विकृत पाठ को परिभाषित करते हुए लेखक द्वय डा० विमिलेश कांति एवं डा० मिथिलेश कांति का कथन है ......, "उन समस्त पाठों को विकृत पाठ की संज्ञा दी जाएगी जिनके मूल लेखक द्वारा लिखे जाने की किसी भी प्रकार कल्पना नहीं की जा सकती।"[1] यह पाठ विकृतियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं (क) बाह्य विकृतियाँ, (ख) अंतरंग विकृतियाँ।

(क) बाह्य विकृतियाँ—पन्नों के फट जाने, खो जाने, उलट-पुलट हो जाने, स्याही फैल जाने, कीटों द्वारा नष्ट होने से पैदा होने वाली विकृतियाँ इस वर्ग में आती हैं। प्रतिलिपिकारों से इन विकृतियों का कोई सम्बन्ध नहीं होता।

(ख) अंतरंग विकृतियाँ—इन विकृतियों का सम्बन्ध लेखन सामग्री से न होकर प्रतिलिपिकारों से है। यह दो प्रकार की हो सकती हैं—(क) सहज रूप से प्रतिलिपिकारों की असावधानी, अयोग्यता आदि से आ जाती हैं। (ख) सचेष्ट रूप से विकृतियाँ प्रतिलिपिकारों द्वारा जानबूझ कर उपस्थित की जाती हैं।

३.२. पाठ विकृति के कारण—'न्यू एन साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के अनुसार...., "यह विकृतियाँ अनेक प्रकार से आ सकती हैं। लिखने की पद्धति में आने वाले परिवर्तनों को न समझने, भाषा-अज्ञानता, विषय अज्ञान, असावधानी एवं मूर्खता या फिर जानबूझ कर शुद्धि लाने के कारण।"[2] यह कारण इस प्रकार है—

(क) मातृ भाषा अलग होने के कारण तथा ग्रन्थ की प्रति की भाषा के पूर्ण जानकार न होने पर लिपिकार पाठ में विकृति ला देगा।

(ख) कई बार जिस स्थान का लिपिकार होता है, वहाँ की बोली के प्रभाव के कारण प्रतिलिपि करते समय कई शब्दों को बदल देगा।

(ग) यदि लिपिक बुद्धिमान एवं ग्रन्थ के विषय का ज्ञाता है, तो ग्रन्थ की प्रतिलिपि करते समय यत्र-तत्र घटाई-बढ़ाई करेगा।

(घ) प्रत्येक लिपिकार की कुछ स्वभावगत विशेषताएँ और प्रत्येक ग्रन्थ की कुछ अपनी विलक्षणताएँ होती हैं। अतः प्रत्येक लिपिकार की शैली में कुछ विशेष प्रकार की अशुद्धियाँ मिलेंगी।

(ङ) लिपिकार का कार्य चाहे कितना ही मेकेनिकल क्यों न हो, उसमें मानवीय बुद्धि अनजाने ही प्रभावित करती है और चाक्षुष एवं मनोवैज्ञानिक दोषों के कारण नवीन प्रकार की विकृतियाँ सामने आती हैं। लिपिकारों के संदर्भ में डा० कात्रे ने एक विचित्र किन्तु महत्त्वपूर्ण बात कही है......., "यह बात यद्यपि विचित्र है तथापि सत्य है कि बुद्धिमान किन्तु अविश्वसनीय अर्ह लिपिकार द्वारा तैयार की गई प्रतिलिपि की अपेक्षा मूर्ख किन्तु ईमानदार प्रतिलिपि हमें पाठ के सम्बन्ध में विशेष जानकारी देती है।"[3]

१. पाठालोचन : सिद्धांत और प्रक्रिया : डा० मिथिलेश कांति, डा० विमिलेश कांति (नवीनतम प्रकाशन, दिल्ली : प्र० सं० १६६७), पृ० ९।

२. 'द न्यू एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका', वॉलयम १८ (१५वां संस्करण) पृ० १८९।

३. भारतीय पाठालोचन की भूमिका ; डा० एस० एम० कात्रे, अनुवादक डा० उदय नारायण तिवारी, पृ० २६।

वस्तुतः इन विकृतियों का कोई निश्चित वर्गीकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्येक ग्रन्थ के विवेचन से अलग प्रकार की विकृतियाँ सामने आती हैं। फिर भी हम पाठ में आने वाली विकृतियों को निम्न रूपों में देख सकते हैं—

३.३. पाठ विकृति के विभिन्न रूप—(क) ध्वनि विषयक—(१) उच्चारण भेद के कारण नागरी लिपि हिन्दी और नेपाली दोनों ही भाषाओं की लिपि है। किन्तु इन दोनों भाषाओं की ध्वनियों एवं शब्दों के उच्चारण में पर्याप्त भेद है, जिस कारण लिप्यंकन में भेद पैदा हो जाते हैं।

(२) अज्ञानता के कारण भी विकृतियाँ आ जाती हैं। जैसे—बोला 'नयन' जाए लिखा 'नैन' जाए, बोला 'ऋतु' जाए लिखा 'रितु' जाए।

(३) कई बार सादृश्य के कारण भी ध्वनि छूट जाती है जैसे—लोललोओ > लोल-अणों।

(ख) वर्ण-विषयक—(१) लिखित वर्णों में लोप एवं वृद्धि दोनों ही होते हैं। उदाहरण के लिए मूल शब्द 'रासक' प्राचीन राजस्थानी शब्द 'रासउ' मध्य राजस्थानी शब्द 'रासौ' तथा आधुनिक शब्द 'रासो' है। यदि प्रतिलिपिकार लिपि करते समय 'रासउ' के स्थान पर 'रासो' लिख देगा तो शब्द की प्राचीनता समाप्त हो जाएगी।

(२) म भ, य प, ध घ, ब व इन वर्णों का दूसरे का भ्रम होने के कारण परिवर्तन हो जाता है जैसे—अवध > अबध, वस्तु > बस्तु।

(३) अनुस्वार के लिए सानुनासिक वर्ण का प्रयोग न कर वर्ण के ऊपर बिंदु लगा देने से भी विकृति पैदा हो जाती है।

(ग) शब्द-विषयक—(१) कई बार अपरिचित शब्द के लिए परिचित शब्द रख देने से भी विकृति पैदा हो जाती है जैसे—सुल्तान > सुरत्राण रख दें।

(२) किसी शब्द के अन्त्याक्षर को अशुद्ध रीति से किसी अन्य शब्द में मिला देने से विकृतियाँ आ जाती हैं, जैसे—ते हि पर रुचिर मृदुल मृगछाला > तेहि पर रुचि मृदुरल मृगछाला।

(३) तत्सम शब्द को तद्भव और तद्भव को तत्सम रूप देने से भी विकृतियाँ आ जाती हैं—जैसे समुंद्र > समुद्र, नैन > नयन।

(४) पर्यायवाची रखने से भी अंतर आ जाता है कंचनगिरि > स्वर्णगिरि > सोन-नगरा।

(५) शब्दों के गलत समीकरण एवं पृथक्करण से भी विकृतियाँ आ जाती हैं।

(घ) पद-विषयक—(१) अशुद्ध समास या विग्रह से विकृतियाँ आ जाती हैं।

(२) सन्धि विच्छेद से भी विकृतियाँ आ जाती हैं ज्ञानेन चान्यो > ज्ञान न चान्यो > ज्ञाने च नान्यो।

(ङ) वाक्य-विषयक—(१) वाक्य में कई बार शब्दों का क्रम परिवर्तित हो जाता है। प्रायः अभि, अधि, अति, आदि शब्दों का स्थानान्तरण देखने को मिलता है। छूटी पंक्तियों, चिह्न को न देखकर उन्हें यथास्थान न उतार कर, कहीं अन्य स्थान पर उतारने से क्रम बदल जाता है।

(च) अर्थ-विषयक—(१) कई बार संक्षिप्त रूपों के मिथ्यार्थ लगाने से अर्थ परिवर्तन हो जाता है।

(२) कई बार गलत अर्थ ग्रहण कर अन्य पर्यायवाची से बदल देने से भी अर्थ में परिवर्तन आ जाता है।

(६) **लेखिम-विषयक**—(१) पुरानी-नयी वर्त्तनी—यदि किसी प्रतिलिपि में राम, काम के ऊपर अनुस्वार लगा हो और बाद वाला लिपिकार अनुस्वार को हटा दे तो वह मूल की रक्षा नहीं कर पाएगा।

(२) कई बार १, २, ३, ४, ५ आदि अंकों को लिपि करते समय लिपिकारों ने उन्हें किन्हीं दोहों की संख्या समझ कर, कहीं बेकार समझ कर निकाल दिया जिससे विकृतियाँ आ गयीं।

(३) एक ही प्रकार की लिखावट की आवृत्ति के कारण पाठ में विकृति आ जाती है जैसे—'आ' को दो बार 'आ'—'आ' लिख दिया जाए।

(ज) **पाठ-प्रक्षेप**—पाठ प्रक्षेप से हमारा अभिप्राय जानबूझ कर पाठ में कुछ कमी-बढ़ोत्तरी से है। यह पाठ प्रक्षेप पाठ की स्वाभाविक कठिनाइयों को छिपाने, व्याकरण विरुद्ध प्रयोगों को दूर करने, पाठ में आई अशुद्धियों को दूर करने, अधिकाक्षर परक छंद-भंग का संशोधन करने या फिर लेखक की धार्मिक, दार्शनिक दृष्टि को अपने अनुकूल बनाने के लिए किया जाता है।

४. पाठालोचकों के दो वर्ग—पाठालोचकों के मुख्य दो वर्ग हैं (क) अनुदार-वर्ग, (ख) उदार-वर्ग।

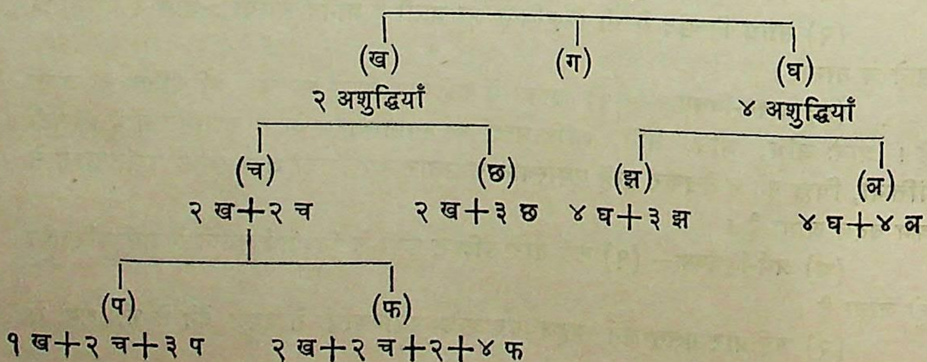
(क) अनुदार-वर्ग—इनका लक्ष्य प्राचीनतम पाठ को ही प्रस्तुत करना है। ये अनुमित सुधार के पक्ष में नहीं हैं। यह शब्दों की खींचतान करके अर्थ लगाने में विश्वास नहीं रखते।

(ख) उदार-वर्ग—यह वर्ग यदि पाठ में दोष है, अर्थ संगति नहीं है, तो उसे रचयिता का दोष समझ कर वैसा का वैसा नहीं रहने देता, अपितु उसमें थोड़ा सुधार के पक्ष में होता है, ताकि निर्विघ्न रूप से रसास्वादन हो सके।

५. पाठालोचन के विभिन्न आयाम—पाठालोचना के चार आयाम स्वीकार किए जा सकते हैं (क) वंश-वृक्ष का निर्णय, (ख) संशोधन या सामग्री का पुनः स्थापन, (ग) पाठ संस्कार या पाठ सुधार, (घ) उच्चतर आलोचना।

५.१. अनुसंधान अर्थात् वंश वृक्ष का निर्णय—वंश-वृक्ष निर्माण से अभिप्राय प्राप्य सामग्री के विकास क्रम को स्पष्ट करने से है। वंश-वृक्ष का निर्माण विभिन्न प्रतियों के अशुद्धि साम्य के आधार पर किया जा सकता है। प्राचीन समय में मुद्रण कला के अभाव में, एक प्रति से विभिन्न प्रतियाँ की जाती थीं, ऐसा करते समय प्रतिलिपियों में अशुद्धियों की अभिवृद्धि होती जाती थी।

वंश वृक्ष निर्माण एवं अशुद्धियों की बढ़ोत्तरी



चित्र से स्पष्ट है कि (क) आदर्श प्रति है आगे उससे विकसित परिवार है। प्रत्येक प्रति में अशुद्धियों की मात्रा अलग-अलग होगी।

यदि 'प' प्रति का वंश निर्धारण करना हो तो—प > च > ख > क।

वस्तुतः अपनी अशुद्धियों के कारण ही प्रतियाँ एक शाखा या परिवार की सिद्ध होती हैं। और इस सम्बन्ध के आधार पर ही उनके वंश का निर्माण होता है। वंश वृक्ष निर्माण के महत्त्व की ओर संकेत करते हुए डा० माता प्रसाद गुप्त ने कहा है........, "पाठानुसंधान कर्त्ता विभिन्न प्राप्त प्रतियों के बीच सम्बन्ध निर्धारण का प्रयास कर रचना की पाठ-परम्परा का इतिहास पुर्नर्निमित्त करता है और फिर इसके द्वारा रचना के प्राचीनतम रूप तक पहुँचने का प्रयास करता है।"[१]

५.२. संचित-सामग्री का पुनः स्थापन एवं संशोधन—पाठालोचन का दूसरा आयाम संशोधन है। पाठ संशोधन को स्पष्ट करते हुए डा० कात्रे ने कहा है, "पाठ संशोधन से तात्पर्य यह है कि सबसे अधिक प्रामाणिक हस्तलिखित ग्रन्थ या उसमें उपलब्ध साक्ष्य की परिपूर्ण आलोचनात्मक जाँच करने के बाद ही आधार-भूत साक्ष्य का चुनाव करना संभव हो सकता है।"[२] संशोधन में निर्वचन-प्रणाली महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। हस्तलिखित प्रतियों के उपलब्ध साक्ष्य की व्याख्या की जाती है। दूसरे तथ्यों से तुलना एवं सभी व्याख्याओं पर विचार करने के पश्चात् ही प्राचीनतम रूपों के अनुसार पाठ प्रस्तुत किया जाता है।

५.३. पाठ-संस्कार या पाठ-सुधार—प्राप्त पाठों में जब कोई ऐसा पाठ न मिले जो प्रामाणिक हो तो ऐसे पाठ की परिकल्पना जो प्रामाणिक हो सकता हो, उसे पाठ संस्कार कहा जाता है। इस प्रकार इस प्रक्रिया में ग्रन्थकार के मूल पाठ तक पहुँचा जाता है और जहाँ तक संभव हो, अन्तः साक्ष्य के आधार पर पाठ को पुनः स्थापित किया जाता है। डा० देवराज उपाध्याय किए जाने वाले पाठ-संस्कार में दो गुणों (क) प्रसंगानुकूलता, (ख) विकार स्पष्टता का होना जरूरी मानते हैं। उनका कथन है ......, "(क) मौलिक पाठ प्रसंग से सर्वथा असंगत हो........पर संशोधन प्रसंग के अनुकूल हो। ऐसा लगे कि वह प्रसंग की नैसर्गिक माँग है। (ख) संशोधन में ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि बतला सके कि पाठ में विकारोत्पन्न होने के क्या कारण हैं।"[३]

५.४. उच्चतर आलोचना—आलोचनात्मक परीक्षण में यह देखा जाता है कि कौन सा पाठ किस कारण स्वीकार किया गया है, किसी पाठ को क्यों अस्वीकार किया गया है, क्यों कोई पाठ संदेह-युक्त है और किस पाठ का किस आधार पर सुधार किया गया है। यह समस्त कार्य आलोचनात्मक परीक्षा में आते हैं। इसमें कवि की मूल-प्रवृत्तियों, विचारधारा, भाषा एवं अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों की ओर भी संकेत किया जाता है।

६. पाठ-निर्धारण के आधार—पाठ निर्धारण के दो आधार हैं (क) बाह्य परीक्षा, (ख) अंतरंग परीक्षा।

६.१. बाह्य सामग्री के आधार पर परीक्षा—कृति की बाह्य सामग्री में प्रत्येक युग

१. 'पाठानुसंधान' डा० माता प्रसाद गुप्त, अनुसंधान की प्रक्रिया, संपादक डा० सावित्री, डा० स्नातक, पृ० ८३।
२. भारतीय पाठालोचन की भूमिका, डा० एस० एम० कात्रे, अनुवादक डा० उदय नारायण तिवारी, पृ० ३४।
३. साहित्यिक अनुसंधान के प्रतिमान : डा० देवराज उपाध्याय (नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली : सं० १९६९), पृ० २४।

में अंतर आता हैं। युग के अनुसार लिखावट में अंतर आता है, स्याही एवं जिल्दबंदी में अंतर आता है। यह सभी कृति के काल निर्धारण में सहायक हो सकते हैं।

६.२. आंतरिक-परीक्षा—पाठालोचन में पाठ-निर्धारण के लिए आंतरिक आधार प्राचीन हस्तलिखित पोथियाँ हैं। इस आंतरिक आधार में कृति का विश्लेषण व्याकरण, वर्त्तनी, वाक्य-रचना, भावार्थ, विचारधारा, छन्द आदि के आधार पर किया जाता है। डा० माता प्रसाद गुप्त का कथन है ......, "पाठ सामग्री के पाठ की सहायता से यह परखना कि उनकी पुष्पिकाओं में जो उल्लेख हैं अथवा उनके सम्बन्ध में जो प्रसिद्धियाँ हैं, वे कहाँ तक ठीक हैं, उनकी अंतरंग परीक्षा कहलाती है।"[1] इनके आधार हैं......भावार्थ की दृष्टि से जो विषय-वस्तु के संदर्भ में फिट न बैठ रहा हो उसे निकाल दिया जाए। इसके लिए आधार कवि शिक्षा, विचारधारा आदि है। इसी प्रकार भाषा के आधार पर कुछ शब्द मिलें जो बाद के थे तो उन्हें निकाल दें। जैसे—'बीसल देव रासौ' में 'मूँगफली' एवं 'गज़' शब्द मिले, जो बाद के हैं, इन्हें निकाल दिया गया।

इसके साथ-साथ पाठालोचक में कई गुण होने चाहिए। उसे अनेक भाषाओं का ज्ञाता होना चाहिए। काव्य शास्त्र, छन्द शास्त्र, अलंकार शास्त्र आदि के अतिरिक्त वेदों, पुराणों, ज्योतिष, दर्शन का ज्ञान होना चाहिए। उसे विभिन्न लिखावटों को पढ़ने में कुशल होना चाहिए। इनके साथ-साथ पुष्पिका पढ़ने में भी कुशल होना चाहिए, तभी वह पाठालोचन प्रभावी ढंग से कर पाएगा।

पाठालोचन का महत्त्व—(१) प्रैस एवं मुद्रण कला के आरम्भ के पश्चात् आधुनिक-ग्रन्थों के संदर्भ में पाठालोचन का इतना महत्त्व नहीं है, किन्तु उस युग में जिसमें मुद्रण कला का प्रसार नहीं था और उसमें सैंकड़ों हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जो हाथ से लिखे जाने तथा अन्य कई कारणों से अपने मूल से दूर चले गए, उनमें कविकृत पाठ के निर्धारण में पाठालोचन का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(२) साहित्यिक-आलोचना एवं साहित्यिक शोध दोनों के लिए ही शुद्ध पाठ का होना अनिवार्य है। पाठालोचन इसके लिए आधार का कार्य करता है।

(३) पाठालोचना साहित्यालोचन के लिए आधार का कार्य करता है। वस्तुतः साहित्यालोचन का कार्य ही तभी प्रारम्भ हो पाता है, जब मूल पाठ का निर्धारण हो जाता है। इस प्रकार पाठालोचन साहित्यालोचन के लिए आधार का कार्य करता है।

(४) पाठालोचन के कार्य ने हमें अनेक अज्ञात एवं ज्ञात कवियों को जीवित रखा है तथा अनेक अलभ्य कृतियाँ दी हैं। इसका श्रेय पाठालोचन को ही है।

(५) पाठालोचन कृति एवं कवि के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रांतियों को दूर करने में सहायक होता है।

(६) कृति के माध्यम से तत्कालीन भाषा के अध्ययन में भी सहायता मिलती है। स्पष्ट है कि पाठालोचन का कार्य महत्त्वपूर्ण है।

. . .

१. 'पाठानुसंधान' डा० माता प्रसाद गुप्त, अनुसंधान की प्रक्रिया, संपादक डा० सावित्री, डा० स्नातक, पृ० ८१।

प्रान्तीय भाषाओं की साहित्यिक रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद और प्रकाशन

डा० एन० ई० विश्वनाथ अय्यर

भू० पू० आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कोचीन विश्वविद्यालय, कोचीन

*

केरल के एक प्रशस्त कविवर ने कविता के स्रोत का वर्णन करते हुए लिखा है कि वीरों की तलवार की झनकार, प्रेयसी के कटाक्ष की झलक, दूधिया दाँत वाले नन्हे के गाल की मुसकान कविता के स्रोत हैं। ये तीनों भाषा और देश की सीमाओं के परे हैं। मानवीय हृदय की संवेदना सार्वकालिक एवं सार्वजनीन होती है। हमारे मूलभूत मनोवेगों में प्रेम, वात्सल्य, करुणा, आश्चर्य, क्रोध, उत्साह, घृणा एवं भक्ति प्रमुख हैं। यह विश्लेषण काव्य-शास्त्रीय न होकर केवल व्यावहारिक है।

प्रेम का सार्वलौकिक प्रभाव—परस्पर प्रेम और प्रेम पर बलिदान करने वाले युवती-युवकों की कहानी सारी भाषाओं के पाठकों के दिलों को समान रूप से गला देती हैं। पंजाब की हीर-रांझा, फारस की लैला-मजनूं, तमिलनाडु का अंबिकापत्ति, केरल का पालाट्टु कोमन, इंग्लैंड की जूलियट और आगरा की अनारकली—ये विभिन्न भाषाओं में प्रस्तुत होने पर भी सब को आत्मीय जन से लगते हैं और इनकी दुःखान्त कथाएँ हमारी आँखों में नमी लाती हैं। किसी अनजान भाषा का सशक्त प्रेम प्रधान नाटक या फिल्म देखते वक्त हम उसकी भाषा समझे बिना भी उस पर निछावर होते हैं। हाँ, आयु, रुचि, वर्ग आदि के अनुसार दर्शकों एवं ग्रन्थ-पाठकों के विभिन्न वर्ग होते हैं। क्या उड़ीसा क्या तमिलनाडु क्या केरल सब की युवती पाठिकाएँ बंगला का देवदास उपन्यास पढ़ते हुए देवदास पर और मलयालम का चेम्मीन उपन्यास पढ़ते हुए परीक्कुट्टि पर तरस खाती हैं। इन प्रदेशों के युवा पाठकों को 'देवदास' की पार्वती और 'चेम्मीन' की करुत्तम्मा सपने में दर्शन देती हैं। यों भिन्न भाषा-भाषी किशोर पाठकों के लिए वीरबल और तेनालिरामन की कथाएँ समान रूप से मनोरंजक हैं। हिन्दी प्रदेश के डाकू मानसिंह और केरल के कायंकुलम कोच्चुण्णी की साहसपूर्ण चोरी-डकैती की कथाएँ उन्हें समान रूप से रोचक लगती हैं।

भक्ति भाषा की दीवार नहीं जानती—प्रेम व साहस के बाद भक्ति और धार्मिक श्रद्धा ही ऐसे मनोवेग हैं जो स्थानभेद व भाषाभेद पर विजय पाते हैं। देवी-देवता के प्रति भक्त नारी-पुरुष की प्रार्थना-आस्था, दैवी लीलाओं और चमत्कारों के गायन की अथक इच्छा

आदि संपूर्ण जगत में मूलतः समान हैं। भारतीय भाषाओं का प्राचीन वाङ्मय तो विशेष रूप से हिन्दू धर्म पर केंद्रित रहा था। इसीलिए बंगाल के चंडीदास की पदावली, महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर के पद, तमिलनाडु के तिरुप्पावै तिरुवेंबावै, केरल का हरिनामकीर्तनम् आदि ग्रन्थ अन्यान्य भाषाओं के पाठकों को भी श्रवण-मधुर रहे हैं। इसी धारणा के कारण तमिलनाडु की हरिकथा-परम्परा तथा भजन-पद्धति में तुकाराम, कबीर, चैतन्य, मीरा आदि के पद गाते और उनकी जय बोलते हैं। प्रेम के दीवनों और प्रभु के दीवानों की कथाएँ जितनी शीघ्रता से और जितने व्यापक रूप में फैल जाती हैं उतनी शीघ्रता और व्यापकता ऐतिहासिक कथाओं के प्रसार रूप में संभव नहीं है। कारण यह कि अपने देश के विभिन्न प्रान्तों के इतिहास और भूगोल के गहरे ज्ञान की कमी आत्मीयता के अनुभव में बाधा डालती है।

ग्रन्थत्रय और उनका अनुवाद ऐतिहासिक विवेचन की दृष्टि से महाभारतकार वेद-व्यास जी संपूर्ण भारतीय कथा के प्रस्तोता तथा प्रथम अनुवादक कहला सकते हैं। उन्होंने संस्कृत में भारत के विभिन्न भागों के राजा, राजशासन, युद्ध आदि की बातें सुनाई हैं। यद्यपि उन्होंने कहीं अनुवादककार्य की चर्चा नहीं की है तथापि अवश्य ही उस युग के भारत के विभिन्न भूभागों में अन्यान्य भाषाएँ बोली गई होंगी। उन भागों की कथाएँ हृदिस्थ कर महाभारतकार ने संस्कृत में उनका वर्णन किया होगा। महाभारत के समान भागवत और रामायण में भी विभिन्न क्षेत्रों की कथाओं का समावेश हुआ होगा ही। आगे चलकर विविध प्रान्तों में वहाँ की सांस्कृतिक परम्परा के अनुकूल रामायण आदि में नये अंश जो जुड़ते हैं, उससे पूर्वोक्त अनुमान को बल मिलता है। नये रामकाव्य, महाभारत की कथाओं के नये पुनराख्यान आदि भी अनुवाद के सिलसिले में रचे गये। फा० कामिल बुल्के की रामकथा में इन रामकथाओं का थोड़ा सा परिचय प्राप्त है। रामायण, महाभारत, भागवत तीनों सारी भारतीय भाषाओं में अनूदित हुए। इन पर आश्रित स्वतन्त्र ग्रन्थ भी रचे गये। इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों का सुखद प्रभाव बहुमुखी रहा है।

(१) प्रान्त व भाषा कोई भी क्यों न हो, सारे भक्तों को प्रेरणा और स्फूर्ति मिलती है।

(२) नृतत्वविज्ञान और समाजविज्ञान के शोधार्थियों को अनेक मार्मिक तथ्य मिलते हैं जिनसे वे महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

(३) साहित्यिक सहृदयों को कृतिकारों की नई-नई कल्पना का आनन्द और तुलना के सुअवसर प्राप्त होते हैं।

जनकथाएँ—पूर्वोक्त महाग्रन्थों के बाद हमारा ध्यान आकृष्ट करने वाली संचित अनूदित ज्ञान राशि जन कथाओं की है। बृहत्कथा, कथासरित्सागर, पंचतन्त्र, हितोपदेश, जातक-कथा आदि ग्रन्थों में ऐसी कथाएँ संगृहीत हैं जो जगह-जगह जनता की चौपालों में परस्पर सुनाई जाती थीं। कालिदास ने मेघसन्देश में उदयन कथा में तथा कुशल ग्रामवृद्धों की कहानी में ऐसी ही कथाओं का उल्लेख किया है। ये कथाएँ सदियों पहले यातायात के साधनों के अभाव में भी मौखिक रूप से सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैलीं। ये नाम-धाम और वेष-भूषा में अन्तर के साथ सम्पूर्ण देश में स्थानीय प्रवृत्तियों के अनुरूप व्याप्त हो गईं। जनता मात्र को मुग्ध करने की इस कुशलता पर हम चकित हो जाते हैं। अखिल भारतीय परिवेश के बाद क्षेत्रीय परिवेश की कथाओं की बारी आती है। उदाहरण है विक्रमादित्य की कथाएँ और मदनकामराजन की कहानियाँ। ये विभिन्न भाषाओं में अनूदित हो लोकप्रियता पा सकी हैं। केरल की ऐतिहासिक कथाएँ अपनी अलग रोचकता रखती हैं। इनमें कई तमिलनाडु की

भी ऐतिह्यकथाएँ हैं। ऐसी कथाओं के अनुवाद से हमारे देश की सांस्कृतिक एकता के अनेक अज्ञात मर्म खुलते हैं। धार्मिक ग्रन्थों एवं कुतूहलवर्धक कथाओं के पाठक बड़ी संख्या में रहते हैं। फिर भी शुद्ध साहित्य की कोटि में ये नहीं आते। उस कोटि के ग्रन्थों के अनुवाद की समस्याओं पर गंभीर एवं स्वतन्त्र विचार अपेक्षित है।

आधुनिक साहित्य में अनुवाद का प्रारम्भ—आधुनिक भारतीय भाषाओं का आधुनिक वाङ्मय एक सौ वर्षों से भी कम पुराना है। इसके प्रारम्भिक वर्षों में संस्कृत ग्रन्थों का सार-लेखन या अनुवाद होता था। आधुनिक भारतीय भाषाओं का परस्पर अनुवाद अपेक्षाकृत अनन्तर युग की बात है। पहले विद्वान संस्कृत को श्रेष्ठ भाषा तथा आधुनिक भाषाओं को कनिष्ठ समझते थे। यह हीनता भावना अंग्रेज़ी के सम्पर्क से ही घटने लगी। आगे बंगला में ऊँची श्रेणी की मौलिक रचनाएँ लिखी गईं। इसका प्रभाव सहज ही अन्य भारतीय भाषाओं पर भी पड़ा। शरत, बंकिम, रवीन्द्र, द्विजेन्द्रलाल राय आदि बीसवीं सदी के प्रारम्भ के मनीषी बंगला साहित्यकारों की रचनाएँ हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनूदित होती गयीं। बंगला से अनुवाद की प्रवृत्ति सभी भारतीय भाषाओं में अब भी लोकप्रिय है। यह प्रमाणित करता है कि जिस भाषा में हमें नई स्पृहणीय सामग्री मिल सके उससे अनुवाद की मांग रहेगी। यही प्रान्तीय साहित्य की अनुवाद-योग्यता की कसौटी है।

अनुवाद किसका और कब ?—अब हम सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करें कि अनुवाद कैसे ग्रन्थ का करना चाहिए। जब हम किसी भाषा की कोई अच्छी रचना पढ़ते हैं और इसके बाद यह महसूस करते हैं कि अमुक भाषा में ऐसी रचना नहीं है और इसीलिए इसका अनुवाद चाव से पढ़ा जाएगा तभी अनुवाद करना उचित है। यहाँ दो शर्तें लागू हैं। (१) लक्ष्यभाषा में इसी प्रकार की मौलिक रचना नहीं हो, (२) लोगों का चाव से पढ़ना सम्भव हो। प्रत्येक भाषा के विराट वाङ्मय में ऐसी अनेक रचनाएँ मिल सकती हैं। अतएव अनुवाद-कला की गुंजाइश काफी बड़ी है। फिर भी कोई इस बात का निश्चित दावा नहीं कर सकता कि इन शर्तों का पालन हमेशा किया जाता है। पत्रिकाएँ प्रायः बड़ी तादाद में अनुवाद छापती हैं। मुद्रण यन्त्र किसी भी मैटर को छापने से इनकार नहीं करता। तिसपर मामूली सामग्री के अनुवाद की अनुमति मुफ़्त में मिलती है। ऐसे वातावरण में उचित चुनाव या काट-छांट के बिना धड़ाधड़ अनुवाद किया जाता है। इससे औसत पाठकों का क्षणिक एवं सस्ता मनोरंजन भले ही हो, पर इससे साहित्य को कोई चिरस्थायी गरिमा नहीं मिलती। खास-खास लेखक ही अनुवाद में पठनीय होते हैं। तिसपर प्रत्येक लेखक की सारी रचनाएँ समान रूप से रस-वाही या उच्चकोटि की नहीं हो सकती। व्यवसाय वाली दृष्टि सतृणाभ्यवहारी होती है। वह विवेक या चयन की चिन्ता नहीं करती, लेखक के नाम का पूरा फायदा उठाती है।

अनुवाद की योग्यता और रुचि—अनुवाद-सामग्री के चयन के समान अनुवादक की योग्यता और रुचि का ध्यान महत्वपूर्ण है। अगर "क" संस्कृत भाषा और प्राचीन आचार-विचारों का अच्छा ज्ञान नहीं रखता तो वह हिन्दी की बाणभट्ट की आत्मकथा का अनुवाद करने का अधिकारी नहीं है। यदि "ख" नये हिन्दी उपन्यास का अनुवाद करना चाहता है, पर पश्चिमी जीवन दर्शन के नये विचारों से परिचित नहीं तो उसका अनुवाद नहीं करना चाहिए। अनूद्य विषय की अच्छी जानकारी एवं उस प्रयोजन के योग्य भाषा-शिल्प पर अधिकार समान महत्व के हैं। ईमानदार व्यक्ति को पहले अपने से पूछना चाहिए कि क्या यह विषय मैं समझ सकता हूँ और क्या मेरे भंडार में इस प्रयोजन के योग्य भाषा का साधन है। केवल सामान्य हिन्दी ज्ञान से कोई अनुवादक भारतीय दंड संहिता या परमाणु-विज्ञान

की सामग्री का अनुवाद नहीं कर सकता। वह विषयों को समझने का अभ्यास करके और विशेषज्ञों की सहायता पद-पद पर लेकर अपना काम चला सकता है। आजकल अनुवाद जीविका के रूप में ग्रहण करने वाले सैकड़ों हैं। उनके लिए इसी उपाय को उत्तम माना गया है। यह समस्या विज्ञान और प्रौद्योगिकी की सामग्री के अनुवाद में बराबर उपस्थित होती है।

अनुवाद के अनुकूल भाषा मंडल—सब लोग सभी भाषाओं में अनुवाद नहीं कर सकते। वे अपने ज्ञान, सुविधा और अभ्यास के अनुसार कुछ भाषाओं का चयन कर लेते हैं। चयन की पहली दौर में भारतीय भाषाओं के कुछ मंडल या एकक निर्धारित किये जा सकते हैं।

भाषागोत्रों की समान प्रवृत्तियाँ इस एकता की प्रथम कसौटी हैं। उदा: दक्षिण की द्राविड़ी भाषाएँ अपनी समान प्रवृत्तियों के आधार पर एक मंडल में रखी जा सकती हैं। इस एकक की भाषाओं का परस्पर अनुवाद अधिक सरल है। पूर्वी क्षेत्र की सारी भाषाएँ—बंगला, उड़िया, असमिया आदि एक मंडल में आती हैं। पंजाबी, सिन्धी, कश्मीरी आदि तीसरे मंडल की हैं। मराठी, गुजराती और उर्दू चौथे मंडल में रखी जा सकती हैं। यह आंचलिक एकता भाषाओं की पारिवारिक एकता और समीपता के कारण भी सम्पन्न है। इन भाषाओं में सर्वनाम, क्रिया, वाक्य-संरचना, मुहावरा आदि की समानता अनुवादक को अधिक अनुभव होता है। इसके पीछे सांस्कृतिक भूमिका की समानता भी कार्यशील है। भाषाओं की इस प्रवृत्ति के कारण हिन्दी में अनुवाद के लिए मराठी, गुजराती, उर्दू और पंजाबी अधिक आसान रहती हैं। पूर्वांचल की भाषाएँ थोड़ी दूर हैं। दक्षिण आँचल की द्राविड भाषाएँ तो और भी दूर हैं। तथापि भारत के विषय में सारी भाषाओं को समेटने वाली एक अखिल भारतीय सांस्कृतिक परम्परा है। इसके अलावा शब्दावली, व्याकरणिक संरचना, काव्य-शास्त्र आदि के क्षेत्र में सभी भारतीय भाषाएँ संस्कृत से अत्यन्त प्रभावित हैं। इसीलिए हिन्दी में अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य के अनुवाद पर लोग सहज ही सोचते व बात करते हैं।

उपर्युक्त बातों से यह तथ्य भी निकलता है कि मूलभाषा की जटिलताएँ या विशिष्टताएँ अनुवाद-कार्य को कठिन बनाती हैं। साथ ही मूलभाषा का प्रभाव अनुवादक की संरचना पर भी पड़ता है। जहाँ हिन्दीतर भाषी हिन्दी सीखकर हिन्दी में अनुवाद करता है वहाँ उसकी सहज भाषा का प्रभाव सीखी हुई भाषा के लेखन पर ज़रूर पड़ता है। यों एक ही सामग्री का अनुवाद अंग्रेज़ी से दो आदमियों से कराया जाय। एक हिन्दी भाषी हिन्दी में करें। एक तमिल भाषी तमिल में करे। इसके बाद उन तीनों भाषाओं का विद्वान इन अनुवादों की तुलना करे। तब अन्तर और अन्तर की भूमिका स्पष्ट विदित होगी। भाषा वैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि अन्य भाषा से मातृभाषा में अनुवाद सबसे सहज एवं सरल है। अतएव प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य हिन्दी में अनूदित करने की सबसे अधिक सुविधा हिन्दी भाषी को है। उसके बाद उन हिन्दीतर भाषी व्यक्तियों को है जो अपनी भाषा की भंगिमाओं से सुपरिचित हैं और हिन्दी भाषी क्षेत्र में रहते हैं। हिन्दी भाषी क्षेत्र से मतलब किसी कोने के किसी गाँव से नहीं, किन्तु ऐसे स्थान से है जहाँ शिष्ट नागरिक भाषा चलती है और जहाँ अनुवाद के साधन उपलब्ध हैं। हिन्दी भाषी प्रदेश से सुदूर प्रान्तीय भाषा क्षेत्र में रहते हुए प्रान्तीय भाषा-साहित्य का हिन्दी में अनुवाद विशेष कठिन है।

अनुवाद की विकासशील प्रविधि एवं प्रशिक्षण—पहले अनुवाद का महत्व पूर्णतः माना नहीं जाता था। कहावत सी चलती थी कि जिसे मौलिक चीज़ लिखना नहीं आता वह अनुवाद करता है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विचार विनिमय हर क्षेत्र में इतना बढ़ा है कि अनुवाद

की भूमिका महत्वपूर्ण हो रही है । अनुवाद को विज्ञान का पद दिया गया है । अनुवाद की वैज्ञानिकता और प्रामाणिकता की माँग बढ़ती जाती है । इसलिए केवल सतही भाषा-ज्ञान की जगह गहरा ज्ञान और अनुवाद-कुशलता आज अपेक्षित है । साथ ही अनुवाद-साधनों की अनिवार्यता बढ़ती जा रही है । इस परिप्रेक्ष्य में विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग, हिन्दी प्रचार संस्थाएँ, हिन्दी संस्थान, हिन्दी निदेशालय, व्यवसायी प्रकाशक सभी अनुवाद के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग दे सकते हैं । योगदान आवश्यक है ।

अनुवाद एक प्रक्रिया है, एक प्रविधि है । इसका विशद प्रशिक्षण जरूरी है । इसके लिए सिद्धान्तों का ज्ञान जितना उपयोगी है उतना ही व्यवहारिक प्रशिक्षण भी काम देता है । उचित शब्दों का उचित प्रयोग तक सिखाना पड़ता है । हर विषय-विधा अलग शैली और शब्दकोष माँगती है । जैसे, विधि की सामग्री वैद्यक की सामग्री से भिन्न है । अर्थशास्त्र के मैटर का अनुवाद रसायन विज्ञान के मैटर के अनुवाद से भिन्न प्रकार का है । साहित्य के ही अन्तर्गत नाटक का अनुवाद निबन्ध के अनुवाद से कुछ अन्तर रखता है ।

आज अनुवाद-प्रशिक्षण बहुत ज़रूरी हो चुका है । विदेशों में जेनीवा और रूस में एक वर्ष और दो वर्षों का अनुवादक-कोर्स चलता है । वैज्ञानिक-तकनीकी अनुवाद के प्रशिक्षण के लिए विशेष पाठ्यक्रम चलाया जाता है । भारत में सुरक्षा विभाग में विदेशी भाषाओं के अनुवाद को ध्यान में रखकर डेढ़ वर्ष का कोर्स चलाया जाता है । विश्वविद्यालयी स्तर पर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय और कोचीन विश्वविद्यालय में भिन्न-भिन्न रूप में अनुवाद-प्रशिक्षण का कोर्स जारी है। प्रान्तीय साहित्य के अनुवाद के लिए साहित्यानुवाद का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पाठ्यक्रम बनाया जा सकता है । प्रशिक्षित अनुवादकों की उपादेयता अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार हो चुकी है । बाइबिल के बहुभाषी संस्करण, सोवियत पत्रिकाओं के अनेक भाषाई संस्करण, संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रकाशनों के पाँच अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं में प्रकाशन, रीडर्स डाइजेस्ट जैसी पत्रिका का अनेक भाषाओं में प्रस्तुतीकरण, कई फिलमों का अनेक भाषाओं में एक साथ प्रस्तुतीकरण (डब्बिग) आदि अनुवाद-कला के चमत्कार हैं ।

प्रान्तीय साहित्य का हिन्दी में अनुवाद कितना और कैसा ?—अब प्रश्न उठ सकता है कि अब तक कितने प्रान्तीय साहित्य का हिन्दी में अनुवाद हुआ है । इसके आंकड़े एक छोटे निबन्ध में नहीं दिये जा सकते । पुस्तकालयों, पत्रिकाओं तथा अन्य स्रोतों से आंकड़े इकट्ठे हो सकते हैं । आगे के अनुवाद के लिए चयन बहुत ज़रूरी है विभिन्न विधाओं के अधिकारी आलोचकों और पाठकों की गोष्ठियाँ हमें बता सकती हैं कि किन-किन कृतियों का अनुवाद किया जाय । प्रकाशन-व्यवसाय अपने अनुसंधान और नवीकरण का नया एकक किसी-न-किसी प्रकार प्रारम्भ करे और उसके लिए आवश्यक खर्च भी करे । हमारे देश का साहित्य प्रकाशन केवल व्यक्तियों प्रकाशकों के सम्पर्क सूत्र तक सीमित नहीं रहना चाहिए । चयन के बाद योजनाबद्ध क्रम से अनुवाद-कार्य जारी रखा जाय ।

यह तो योजनाधीन बात है । फिलहाल हम संक्षेप में सोच सकते हैं कि कैसे साहित्य को प्राथमिकता दी जाय । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे सामने है । केरल के बाहर से केरल आने वाले वापसी यात्रा में थोड़ा सा काजू और इलायची ले जाना बहुत पसन्द करते हैं । कारण ये दोनों बहुत अच्छी हैं और खास केरल में होती हैं । किसी प्रान्त की खास साहित्य-कृति का चयन कई दृष्टियों से किया जा सकता है । इस चयन में आंचलिक समीपता और घनिष्ठता का विशेष ध्यान है । पूर्वांचल के लोग जिन साहित्यिक प्रतिभाओं-कृतियों से अधिक

परिचित हों उनसे दक्षिणांचल के लोगों का परिचित होना अनिवार्य नहीं है हमारे देश के प्रान्त यूरोप के महान राष्ट्रों से विस्तार में बड़े हैं।

पोषक और पूरक साहित्य के अनुवाद की प्राथमिकता—जब हम प्रान्तीय साहित्य का यत्नपूर्वक हिन्दी में अनुवाद करें तब ऐसी सामग्री दें जो हिन्दी में नहीं हो और जो हिन्दी की कमी को दूर कर सके। जैसे, शुद्ध हिन्दी भाषी प्रदेश समुद्र और समुद्रतट के वातावरण के जीवन से परिचित नहीं है। केरल यह दे सकता है। बंगाल यह दे सकता है। यों असम नदियों और बाढ़ों का देश है। माटी का सोना वहाँ मँकता है। वहाँ का वाङ्मय अनूदित होकर हिन्दी को नई चीज़ दे सकता है। तमिलनाडु की सांस्कृतिक कलाएँ और वहाँ के लोक जीवन के कई तत्व हिन्दी के लिए नये हैं। इसी प्रकार प्रत्येक प्रान्त अपनी खास-खास चीज़ हिन्दी को दे सकता है।

आधुनिक युग की एक प्रमुख प्रवृत्ति भारतवर्ष की एकता है। राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में समान विकास-ह्रास परिलक्षित होते हैं। संचार के सारे माध्यम पत्रिका, पुस्तक, चलचित्र एवं दूरदर्शन न्यूनाधिक मात्रा में समान सामग्री भारत की सभी भाषाओं में दे रहे हैं। फिर भी प्रान्त-प्रान्त के सामाजिक परिवेश में सूक्ष्म अन्तर है। इसके अलावा शुद्ध हिन्दी वाङ्मय में अखिल भारतीयता धर्मेतरता आदि तत्व पूर्णतः विकसित नहीं हो पाये हैं। अनूदित प्रान्तीय साहित्य इस विकास की गति बढ़ाएगा।

अनुवाद के साधन—प्रान्तीय साहित्य के अनुवादकों को अनुवाद के साधन बड़ी कठिनाई से उपलब्ध होते हैं। हिन्दी से प्रान्तीय भाषा में अनुवाद करते वक्त छोटे-मोटे शब्दकोशों की सहायता ज़रूर प्राप्त होती है। वे भी सम्पूर्ण नहीं हैं। इनके अलावा मुहावरा, पहेली, पर्याय आंचलिक शब्द आदि के शब्दकोषों की बड़ी आवश्यकता है। प्रान्तीय भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद के लिए मलयालम-हिन्दी कोष, कन्नड हिन्दी कोष आदि सन्तोषजनक मात्रा में नहीं मिलते। किसी-किसी भाषा के हिन्दी कोष है ही नहीं। उन भाषाओं के मुहावरे, लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ, आंचलिक शब्द आदि के अलग-अलग कोष तो बिलकुल नहीं हैं। इनकी भी ज़रूरत है। स्वैच्छिक हिन्दी संस्थाएँ इस दिशा में यथासम्भव प्रयत्न करें तो बड़ी सेवा होगी। जहाँ एक प्रदेश में कई संस्थाएँ हैं। वहाँ वे परस्पर विचार परामर्ष करके अलग-अलग कोष का कार्य चुनकर काम पूरा कर सकती हैं। सरकारी अनुदान की प्राप्ति समय और धन का उचित उपयोग आदि में यह नीति सहायक रहेगी।

अनुवाद और अनुवाद के प्रकाशन का व्यावसायिक पक्ष—अब हम शीर्षक के दूसरे खंड पर पहुँचते हैं—प्रकाशन। कविवर तुलसीदास ने स्वांतःसुखाय मानस लिखा और बाद में जन-जन को परनिर्वृति मिली। महान अनुवाद भी स्वांतःसुखाय ही किया जाता है। सच्चा अनुवादक एक ऊँचा कलाविद है। उसे जब तक अपना अनुवाद सन्तोषजनक नहीं लगता तब तक वह उसे तराशता रहता है। यों स्वांतःसुख के लिए ही प्रायः अनुवादक अनुवाद करता हैं। वरना कालिदास के शाकुन्तल का मलयालम अनुवाद बीस से भी ज्यादा लोग क्यों करते? उमर खैयाम की रुबाइयात का अनुवाद हिन्दी में ही कई लोगों ने किया। शेक्सपीयर के नाटकों के अनुवाद की भी बात है। इसके पीछे व्यवसायी प्रकाशक का भी हाथ प्रायः होता है। शरच्चन्द्र, बंकिमचन्द्र आदि के उपन्यासों का अनुवाद भिन्न-भिन्न लोगों ने प्रकाशकों के लिए किया है।

प्रान्तीय साहित्य के अनुवाद के क्षेत्र में प्रारम्भिक युग में अनुवादक कम रहते हैं। प्रकाशक भी दिलचस्पी नहीं लेते। जो कृतियाँ अंग्रेज़ी आदि माध्यम से प्रशस्त हो जाती हैं

उन्हें व्यवसायी अनूदित कराना चाहते हैं। प्रान्तीय भाषा के अच्छे अनुवादक न मिलने से वे अंग्रेजी से अनुवाद कराते हैं। अब प्रान्तीय साहित्य का अनुवाद हिन्दी में करने की क्षमता काफी बढ़ी है। अब अनुवादक अनेक हैं, अनूदित रचनाएँ भी पांडुलिपि के रूप में तैयार होती रहती हैं। किन्तु प्रकाशक और ग्राहक की स्थिति अच्छी नहीं है। यह समस्या काफी गहरी है। यहाँ उल्लेख भी किया जाता है। व्यवसायी प्रकाशक कीमती पूँजी ऐसी पुस्तक पर नहीं लगाना चाहता जिसकी बिक्री का ठिकाना नहीं है। हिन्दी क्षेत्र के पाठकों के समाज में भारत के अन्य प्रदेशों की साहित्यिक रचनाएँ पढ़ने की इच्छा और खरीदने की प्रवृत्ति बहुत कम रही हैं। ऐसी हालत में हिन्दी प्रदेश के व्यवसाय क्षेत्र के निजी प्रकाशक समझ बूझकर घाटा उठाना नहीं चाहते।

सार्वजनिक संस्थाएँ अनुवाद कार्य करा सकती हैं। कुछ-कुछ कार्य चल भी रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र की अपनी कमजोरियाँ हैं। आखिर आदमी ही यहाँ भी काम करता है। सामान्यतः यहाँ ग्रन्थों का चयन, अनुवाद आदि अच्छे ढंग से ही चलता है। कभी चयन सब के अनुकूल नहीं पड़ता। कभी स्वार्थहित की बातें दखल देती हैं। ऐसे क्षेत्र के अनुवादकों की व्यस्तता, पारिश्रमिक की अति लघुता आदि कारणों से कार्य केवल मनौती पूरी करना हो जाता है। इनके संस्थाओं के लिए सम्पादन, पुनरीक्षण आदि की भी व्यवस्था है। अतः त्रुटि का आरोप प्रायः व्यक्तिगत रागद्वेष के कारण भी होता है।

अनुवादक स्वयं विक्रेता भी हो, यह भी कठिन है। पिछली पीढ़ी के वरिष्ठ केरलीय साहित्यिकों को रामायण आदि का अनुवाद अपने साथ लेकर घूमघूमकर बेचना पड़ता था। अब हम उनका यश गाते हैं। उन दिनों तो उनके पैरों पर छाले पड़ते थे। अगर आज विद्वान् लेखक प्रान्तीय साहित्य का अनुवाद हिन्दी में करके फेरीवाले की भाँति हाँक लगाता नहीं फिर सकता। पुस्तक-विक्रय अब बड़े व्यवसायी का रूप धारण कर चुका है। प्रकाशक विक्रेता पर निर्भर करता है। बिक्री की कसौटी सबसे टेढ़ी है। कुछ प्रान्तीय हिन्दी संस्थाओं ने योजनाबद्ध क्रम से और स्वतन्त्र रूप से भी प्रान्तीय साहित्य का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास तथा कर्नाटक महिला हिन्दी प्रचार समिति, बेंगलूर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वे भी बिक्री की बिन्दु पर सफलता की कमी से परेशान हैं। यद्यपि सरकारी संस्थाएँ आर्थिक लाभ के लिए चिंतित नहीं हैं तो उनका प्रकाशन-कार्यक्रम भी बिक्री के अभाव में कई प्रकार से रुक जाता है।

कथनी तजि करनी करै—यहीं पर हम कथनी और करनी की समस्या पर आते हैं। एक तरफ नेता, विद्वान, सम्पादक आदि आह्वान करते हैं—"प्रान्तीय साहित्य हिन्दी में लाइए और भारत की भावात्मक एकता सुदृढ़ बनाइए।" मगर जब निजी क्षेत्र की या सार्वजनिक पुस्तकालयों की खरीद की बात आती है तब अनूदित हिन्दी साहित्य से समझ बूझकर अपने को कतरा लेते हैं। अन्यथा इतने विशाल देश में इतनी बड़ी संख्या में पुस्तकालयों के रहते हुए थोड़ी सी अनूदित प्रान्तीय हिन्दी कृतियों का १०००, २००० का संस्करण सालों तक गोदाम में पड़ा दीमक की खुराक क्यों बने ? सारी हिन्दी संस्थाएँ कालेजों के हिन्दी विभाग भी—यह निर्णय करें कि अपने बजट का दस प्रतिशत अनूदित रचनाएँ खरीदने के लिए खर्च करेंगे और रचनात्मक दृष्टि से चयन करेंगे तो निश्चित ही प्रान्तीय साहित्य का हिन्दी अनुवाद धड़ाधड़ बिकता जायगा।

अन्य भाषा का अध्यापन अनूदित साहित्य के माध्यम से—डा० नगेन्द्र ने "अमरीकी विश्वविद्यालयों में हिन्दी" वाले लेख में बताया है कि वहाँ अन्य भाषा का पाठ्यक्रम अनूदित

साहित्य के माध्यम से निर्धारित होता है। यह प्रणाली भारतीय विश्वविद्यालयों में भी क्यों न स्वीकार की जाय ? जब सभी प्रान्तों के लोग हिन्दी भाषा व साहित्य के अध्ययन में तन मन से लगे हैं तब हिन्दी के उच्चस्तरीय पाठ्यक्रम में एक प्रान्तीय भाषा को क्यों शामिल न किया जाय ? उसका अध्ययन अनूदित साहित्य के माध्यम से करना काफी है। इस पाठ्यक्रम में यत्नपूर्वक अखिल भारतीयता लाने का सच्चा परिश्रम हो। ऐसा करने पर प्रान्तों के परस्पर समझने के नये रास्ते खुलेंगे। अनूदित ग्रन्थों के प्रकाशन और बिक्री में शीघ्रता आएगी।

कुछ वर्ष पहले, सम्भवतः १९७६ में कोचीन विश्वविद्यालय की एक अनुवाद संगोष्ठी के निदेशक की हैसियत से गोष्ठी की कई सिफारिशें विश्वविद्यालयों के पास भेजी थीं। उनमें एक यह थी कि हिन्दी के विशाल पाठ्यक्रम के प्रांगण में प्रान्तीय अनूदित साहित्य को भी स्थान दें। जिस प्रान्त में पाठ्यक्रम बनता है उस प्रान्त से भिन्न प्रान्त की भाषा का साहित्य हो। एकाध जगह यह नीति अमल में लाई गई। अधिकांश स्थानों पर प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं थी। एक तर्क यह था कि हिन्दी का इतना मौलिक साहित्य भरा पड़ा है कि हम उसी को पूरा कर नहीं पाते। तिसपर आप अनुवाद भी सिखाने का सुझाव देते हैं। उक्त कथन भाषा साहित्य के अध्यापन की पुरानी संकल्पना का प्रमाण है। दूसरा तर्क यह है कि अनूदित साहित्य की शिल्पविधि और शैली हिन्दी की प्रकृति के पूर्णतः अनुकूल नहीं है। यह तर्क लंगड़ा है क्योंकि प्रगतिशील भाषा में प्रान्तीय प्रभाव से विभिन्न शैलियों का विकास अनिवार्य है। जिस किंग्स इंग्लीष की शुद्धि का दावा किया जाता है उसकी भिन्न-भिन्न शैलियाँ क्या अयरलैंड, अमरीका, अफ्रीका, कैनडा, भारत आदि देशों की अंग्रेज़ी में उभर नहीं आई हैं ? यह ज़रूर है कि हिन्दी की प्रकृति को सुरक्षित रखने के लिए अभ्यास, आलोचना, सम्पादन आदि आवश्यक हैं। भाषा मँजते-मँजते ही मँजती है। आग पर तपते-तपते सोने में चमक आती है।

विश्वविद्यालयों से जो अनुरोध किया था उसे दुहराना चाहता हूँ। वही प्रार्थना अखिल भारत की स्वैच्छिक हिन्दी सेवी संस्थाओं से करता हूँ। संस्थायें अपनी उच्च परीक्षा के पाठ्यक्रम में कथा, नाटक, काव्य—कोई एक अनूदित रचना रखें। इससे छात्रों का लाभ तो होगा ही। प्रान्तीय साहित्य के अनुवाद की जो योजनाएँ बनेंगी वे भी सफल निकलेंगी। यदि इस शिविर के विचार परामर्श के फलस्वरूप यह नयी नीति अमल में आवे तो हिन्दी प्रचार व प्रसार के क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात होगा।

• • •

हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन के विकास की अवस्थाएँ

डा० रामदयाल कटारा
प्रवक्ता, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

*

हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन के विकास की तीन अवस्थाएँ परिलक्षित होती हैं, जो इस प्रकार हैं—

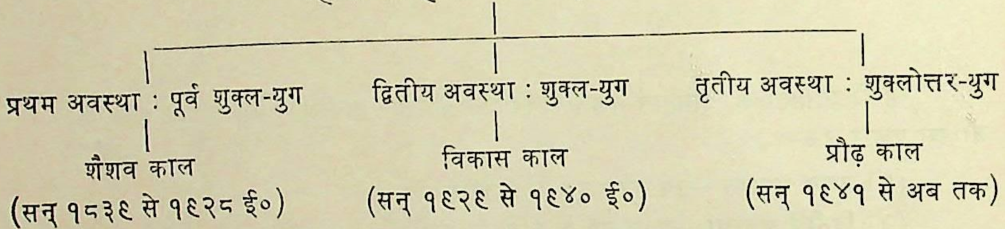
(१) **प्रथम अवस्था**—पूर्व शुक्ल-युग के इतिहास-ग्रंथ।
(२) **द्वितीय अवस्था**—शुक्ल-युग के इतिहास-ग्रंथ।
(३) **तृतीय अवस्था**—शुक्लोत्तर-युग के इतिहास-ग्रंथ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की प्रथम अवस्था पूर्व शुक्ल-युग के इतिहास-ग्रंथों की रही है। गार्सां-द-तासी, शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु आदि के प्रयास इसमें सम्मिलित किए जा सकते हैं। इस अवस्था का इतिहास-लेखन विवरण प्रधान या वृत्त संकलनमूलक ही अधिक रहा है। इस युग के इतिहास-लेखन में किसी शोध-प्रवृत्ति और वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव देखने को मिलता है।

द्वितीय अवस्था का सम्बन्ध शुक्ल-युग के इतिहास-ग्रंथों से है। इस युग में विधेयवादी इतिहास प्रणाली पर इतिहास-ग्रंथों का विवेचन किया गया है। आचार्य शुक्ल से पूर्व के इतिहासकारों गार्सां-द-तासी, ग्रियर्सन, सेंगर, मिश्रबन्धु आदि विद्वानों ने इतिहास का अर्थ वृत्त संकलनमूलक प्रवृत्ति तक ही सीमित रखा है। कवियों के नाम और उनकी रचनाओं की सूची सहित उदाहरण प्रस्तुत कर देना ही उस युग (पूर्व शुक्ल-युग) के इतिहासों की प्रमुख विशेषता रही है। लेकिन द्वितीय अवस्था को प्राप्त होने पर शुक्लजी के इतिहास से इतिहासकारों ने एक व्यवस्थित इतिहास का स्वरूप प्राप्त किया। शुक्लजी के इतिहास के पश्चात् वृत्त-संकलन की अपेक्षा प्रवृत्ति निरूपण पर अधिक बल दिया जाने लगा। इस युग में यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि साहित्य के इतिहास का मूल प्रयोजन प्रवृत्ति-निरूपण है, तिथि बाहुल्य, नामों एवं कृतियों का विवरण नहीं। विवरण का महत्व है अवश्य, पर तभी तक, जब तक कि वह प्रवृत्ति के स्पष्टीकरण में सहायक हो। प्रवृत्ति-निरूपण साध्य है, विवरण साधन। इस युग का इतिहास-लेखन विवरण प्रधान होने की अपेक्षा विवेचन-प्रधान रहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दर दास, डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय, डा० रामकुमार वर्मा के इतिहास-ग्रंथ इसी अवस्था से सम्बन्धित हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की तृतीयावस्था शुक्लोत्तर युग के इतिहास-ग्रंथों से सम्बन्धित है जो मुख्यतः सांस्कृतिक और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को लेकर चलती है। इस युग में वैज्ञानिक, विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक, आलोचनात्मक दृष्टिकोणों को अपना-कर भी इतिहास-ग्रंथों की रचना हुई। इसी युग में इतिहास लेखन की निर्वैयक्तिक अथवा जातीय प्रणाली का विकास हुआ। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' इस दृष्टि से पहली पुस्तक है।

विकास एवं प्रौढ़ि की दृष्टि से प्रथम अवस्था अर्थात् पूर्व शुक्ल-युग को शैशव काल, द्वितीय अवस्था अर्थात् शुक्ल-युग को विकास काल तथा तृतीय अवस्था अर्थात् शुक्लोत्तर-युग को प्रौढ़काल भी कहा जा सकता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की ये तीनों अवस्थाएँ निम्नलिखित चित्र द्वारा भली-भाँति स्पष्ट हो सकेंगी—



प्रथम इतिहास-ग्रंथ पर विभिन्न विद्वानों के मत और अन्तिम निर्णय :

हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास-ग्रंथ किसे माना जाय, इस सम्बन्ध में विद्वानों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ रही हैं। विद्वानों का एक वर्ग वह है, जो गार्सां-द-तासी को हिन्दी का प्रथम इतिहास-लेखक तथा उनके 'इस्त्वार द ला लितरेत्थूर ऐंदुई ऐं ऐंदुस्तानी' नामक ग्रंथ को हिन्दी का प्रथम इतिहास-ग्रंथ स्वीकार करता है। इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले विद्वानों में श्री नलिन विलोचन शर्मा तथा डा० भगीरथ मिश्र प्रमुख हैं। श्री नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है कि "तासी की पुस्तक का महत्व बहुत कुछ इसी कारण है कि वह हिन्दी का सर्वप्रथम साहित्यिक इतिहास है।"[१] इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए डा० भगीरथ मिश्र का कहना है कि "हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रसंग में यह एक आश्चर्य की बात है कि इसका सर्वप्रथम इतिहास एक विदेशी द्वारा लिखा गया। यह इतिहास फ्रेंच विद्वान् गार्सां-द-तासी द्वारा लिखित 'इस्त्वार द ला लितरेत्थूर ऐंदुई ऐं ऐंदुस्तानी' है।…… ……जहाँ तक ऐतिहासिक विवेचना का प्रश्न है यह विशेष महत्व नहीं रखता, परन्तु इसका स्थान इस दृष्टि से है कि यह हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास है और एक विदेशी द्वारा लिखा गया है।"[२]

लेकिन तासी के इस ग्रंथ को हम हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास नहीं मान सकते। वस्तुतः यह ग्रंथ इतिहास न होकर हिन्दी-उर्दू कवियों का खिचड़ी कवि-कोष है। वर्ण-क्रम से कवि-परिचय दे देना किसी ग्रंथ को इतिहास प्रमाणित नहीं कर सकता। इस ग्रंथ में न तो समय का कोई क्रम है, न किसी प्रवृत्ति का विवेचन। यद्यपि भूमिका से यह स्पष्ट विदित

१. देखिये, नलिन विलोचन शर्मा कृत साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ० ७५।
२. देखिये, डा० भगीरथ मिश्र का लेख 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' —डा० धीरेन्द्र वर्मा प्रभृति विद्वानों द्वारा संपादित 'हिन्दी साहित्य' (तृतीय खण्ड), पृ० ६२३।

होता है कि तासी इतिहास-लेखन की प्रणाली से परिचित थे, फिर भी अपरिहार्य कारणों से वे इसका प्रयोग अपनी रचना में नहीं कर सके और उन्हें वर्ण क्रमानुसार विवरण से ही सन्तोष करना पड़ा। साहित्य के इतिहास की जो धारणाएँ अंग्रेजी और फ्रांसीसी लेखकों में विकसित हो चुकी थीं यदि उनका उपयोग तासी के ग्रंथ में हुआ होता, तो कदाचित इतिहास-लेखन का कार्य शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ जाता। यह अवश्य था कि सर्वप्रथम इतिहास में वैज्ञानिक वर्गीकरण का स्वच्छ रूप नहीं लाया जा सकता था, किन्तु तासी ने तो इस दिशा में कोई प्रयास ही नहीं किया।

विद्वानों का दूसरा वर्ग शिवसिंह सेंगर के 'शिवसिंह सरोज' नामक ग्रंथ को हिन्दी का प्रथम इतिहास मानता है। इस वर्ग के विद्वानों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रो० सीताराम सिंह आदि की गणना की जा सकती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'शिवसिंह सरोज' को प्रथम इतिहास-ग्रंथ स्वीकार करते हुए लिखा है कि "इसमें कवियों की संख्या तासी से अधिक है तथा पहली बार हिन्दी साहित्य के इतिहास का ढाँचा खड़ा करने का प्रयत्न किया गया है।"[१] इसी प्रकार प्रो० सीताराम सिंह का कथन है कि "शिवसिंह सरोज के लेखक शिवसिंह सेंगर को हिन्दी भाषा में हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास लेखक होने का श्रेय प्राप्त है।"[२]

इसमें संदेह नहीं कि 'शिवसिंह सरोज' हिन्दी के पुराने इतिहासकारों का प्रमुख आधार रहा है, तथापि यह ग्रंथ इतिहास नहीं है। तिथियों और तथ्यों के बावजूद इस ग्रंथ में काल-क्रम के विषय में सजगता नहीं मिलती, इसलिये यह ग्रंथ संग्रह-मात्र है और इतिहास की सामग्री के रूप में ही इसका महत्व है। 'सरोज' की टीका करते हुए श्री रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने यह उचित ही लिखा है कि "सरोज वास्तव में इतिहास-ग्रंथ नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें वह सामग्री नहीं जिसका साहित्य के इतिहास में होना अनिवार्य है।"

तीसरे वर्ग का सम्बन्ध उन विद्वानों से है, जो सर जार्ज ग्रियर्सन के 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' को हिन्दी का प्रथम इतिहास स्वीकार करते हैं। श्री किशोरी लाल गुप्त तथा डा० ओंकार नाथ श्रीवास्तव इसी वर्ग में आते हैं। श्री किशोरी लाल गुप्त ने तो इस ग्रंथ का अनुवाद ही 'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास' शीर्षक से किया है। अनुवादक की धारणा रही है कि "यह हिन्दी साहित्य की नींव का वह पत्थर है, जिस पर आचार्य शुक्ल ने अपने सुप्रसिद्ध इतिहास का भव्य भवन निर्मित किया। इस इतिहास-ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्व है। इसने प्रारंभिक खोज रिपोर्टों एवं 'मिश्रबंधु विनोद' को पूर्णतः प्रभावित किया है। शुक्लजी के इतिहास के प्रकाश में आने से पूर्व एक युग था, जब यह ग्रंथ अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता था।"[३] अनुवादक ने काल विभाजन तथा प्रवृत्ति निरूपण के अतिरिक्त पृष्ठभूमि निर्देश, तुलनात्मक समीक्षा एवं कृति के मूल्यांकन विषयक प्रयत्नों के आधार पर इसे हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास माना है। श्री किशोरी लाल गुप्त से ही कुछ-कुछ मिलती धारणा डा० ओंकारनाथ श्रीवास्तव की रही है। उन्होंने इस ग्रंथ के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि "प्रधानतः उपर्युक्त सामग्री पर आधारित यह

१. देखिये, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १।
२. देखिये, प्रो० सीताराम सिंह का लेख 'हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास' —सरस्वती संवाद, फरवरी १९६१ ई०, पृ० २३।
३. देखिये, श्री किशोरी लाल गुप्त द्वारा अनूदित हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, पृ० ५।

हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम इतिहास-ग्रंथ है, क्योंकि यह काल-प्रवाह के आधार पर लिखा गया है और इसमें सबसे पहले काल-विभाजन की पद्धति अपनाई गई है।"[१]

उपर्युक्त ग्रियर्सन के ग्रंथ की समीक्षा करने से पूर्व हम विद्वानों के उन शेष वर्गों की ओर भी संकेत कर देना चाहते हैं, जो मिश्रबंधु कृत 'मिश्रबंधु विनोद' और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' को हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास-ग्रंथ स्वीकार करते हैं।

डा० रामकुमार वर्मा तथा रामशंकर शुक्ल 'रसाल', 'मिश्रबंधु विनोद' को हिन्दी का प्रथम इतिहास स्वीकार करते हैं। वर्माजी की यह मान्यता रही है कि "हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास को विस्तारपूर्वक लिखने का प्रथम श्रेय मिश्रबंधुओं को है।"[२] डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का मत भी 'मिश्रबंधु विनोद' को हिन्दी का प्रथम इतिहास-ग्रंथ मानने के पक्ष में दिखाई पड़ता है। 'रसाल' जी ने शिवसिंह सेंगर और ग्रियर्सन के ग्रंथों की आलोचना करते हुए लिखा है कि "सरोज वास्तव में इतिहास-ग्रंथ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें वह सामग्री नहीं, जिसका होना साहित्य के इतिहास में अनिवार्य है। इसी प्रकार यह (ग्रियर्सन का) ग्रंथ भी एक प्रकार से कवि नामावलि का ग्रंथ है और हिन्दी साहित्य के इतिहास की ओर संकेत करता हुआ उसका सहायक मात्र ठहरता है।"[३] इसमें संदेह नहीं है कि 'मिश्रबंधु विनोद' में सामग्री का संकलन अत्यन्त परिश्रम पूर्वक किया गया है, किन्तु उस सामग्री के समुचित व्यवस्थापन और वर्गीकरण का इसमें अभाव है। इतना अवश्य है कि हिन्दी-साहित्य को एक विस्तृत काल-प्रवाह के बीच देखने और दिखाने का प्रयास इस पुस्तक ने किया है—हिन्दी साहित्य की जितनी अधिक सामग्री इसमें एकत्र मिलती है उतनी पहले के किसी ग्रंथ में नहीं। यथास्थान कवियों की संक्षिप्त आलोचना भी इसमें है। इतना होने पर भी, मिश्र-बंधुओं का यह प्रसिद्ध ग्रंथ साहित्य के इतिहास की आवश्यकता को पूर्ण नहीं कर सका। दूसरे शब्दों में, साहित्य की अन्तर्वर्ती मूल धारा का युग-युग व्यापी अविच्छिन्न प्रवाह 'विनोद' द्वारा उद्‌घाटित नहीं हो सका। यही कारण है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'प्रकाण्ड वृत्त-संग्रह' ही कहा है।[४] भले ही आचार्य शुक्ल से हम पूर्णतः सहमत न हों, फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि 'मिश्रबंधु विनोद' साहित्य का सच्चा इतिहास नहीं है। इसलिये लेखक ने स्वयं इसका नाम इतिहास न रखकर 'विनोद' रखा है। इसका विशेष उद्देश्य भाषा सम्बन्धी परिवर्तनों तथा कवियों की आलोचना करने की अपेक्षा छोटे-बड़े कवियों तथा लेखकों को स्थान देना रहा है। इस सम्बन्ध में वे स्वयं लिखते हैं कि "पहले हम इस ग्रंथ का नाम 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' रखने वाले थे, पर इतिहास की गंभीरता पर विचार करने से ज्ञात हुआ कि इसमें साहित्य का इतिहास लिखने की पात्रता नहीं है।"[५] इसलिये मिश्रबंधुओं ने इसके नाम के साथ 'कवि-कीर्तन' शब्द जोड़ दिया है, जिस पर व्यंग्य करते हुए आगे शुक्ल जी ने कहा है कि "मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के इतिहास का एक पक्का और व्यवस्थित ढांचा खड़ा करना था, न कि कवि-कीर्तन करना।"[६] सच तो यह है कि कवि-कीर्तन करने की

१. देखिये, डा० ओंकारनाथ श्रीवास्तव कृत 'हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष', पृ० २४३।
२. देखिये, डा० रामकुमार वर्मा कृत हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २।
३. देखिये, रामशंकर शुक्ल 'रसाल' कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १-२।
४. देखिये, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६।
५. देखिये, मिश्रबंधु कृत 'मिश्रबंधु विनोद', भूमिका, पृ० ३।
६. देखिये, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १-२।

ओर प्रवृत्ति होने के कारण ही 'विनोद' में इतिहास एवं समीक्षा के गंभीर तत्वों का विनियोग नहीं हो सका है।

इसी प्रकार कुछ विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास मानते हैं। डा० राजकिशोर कक्कड़ का मत है कि 'शिवसिंह सरोज, माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान' तथा मिश्रबंधु विनोद के पश्चात् हिन्दी का पहला प्रौढ़ तथा वास्तविक इतिहास शुक्लजी का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' है।"[१] इसी प्रकार के विचार प्रो० सीताराम सिंह ने व्यक्त किये हैं। उनका कथन है कि "हिन्दी साहित्य का सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक, प्रवृत्तिमूलक इतिहास लिखने का गौरव आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है।"[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह ज्ञात होता है कि हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास के सम्बन्ध में विद्वानों का कोई एक मत नहीं रहा है। किसी ने गार्साँ-द-तासी के ग्रंथ को हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास माना है, तो किसी ने शिवसिंह सेंगर के 'शिवसिंह सरोज', जार्ज ग्रियर्सन के 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान', मिश्रबंधुओं के 'मिश्रबंधु विनोद' और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' को। इस संदर्भ में हमारा अपना मत यह है कि गार्साँ-द-तासी कृत 'इस्त्वार द ला लितरेत्थूर ऐंदुई ऐं ऐंदुस्तानी', शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' और मिश्रबंधु कृत 'मिश्रबंधु विनोद' साहित्य के इतिहास-ग्रंथों की कोटि में नहीं आ सकते। ये मात्र कविवृत्त-संग्रह ही हैं। इसमें संदेह नहीं कि यद्यपि इनमें हिन्दी साहित्य के क्रमबद्ध विकास की सामग्री उपलब्ध होती है, लेकिन इतना होने पर भी इनमें इतिहास-लेखन की वैज्ञानिकता का नितान्त अभाव है। अब शेष दो ग्रंथ रह जाते हैं, प्रथम जार्ज ग्रियर्सन कृत 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को साहित्य का सच्चा इतिहास-ग्रंथ मानने में तो कोई संदेह ही नहीं है। सच तो यह है कि हिन्दी साहित्य का सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक और प्रवृत्तिमूलक इतिहास लिखने का श्रेय उन्हीं को है। उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नाम से जो इतिहास-ग्रंथ प्रस्तुत किया, उसमें पहली बार लेखकों और ग्रंथों की नामावलियों की अपेक्षा साहित्य के विकास की प्रवृत्तियों के विश्लेषण पर विशेष जोर दिया गया है। शुक्लजी ने साहित्य के इतिहास को कोरे काल परक विभाजन के स्थान पर प्रवृत्तियों के विकास के रूप में प्रस्तुत किया और इस प्रकार ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की खोज की। उन्होंने लोक-संग्रह की भावना को अपनी खोज की दिशा के रूप में अपनाया। यह बात उनके प्रयास को युग-बोध से जोड़ती है, जिसके बिना ऐतिहासिक बोध प्रायः अधूरा रहता है। वस्तुतः शुक्लजी का इतिहास तो समस्त हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों के लिये आदर्श है। अतः उसे 'प्रथम इतिहास-ग्रंथ' की संज्ञा से विभूषित करना एक तरह से उसके महत्व को कम कर देना ही है। हमारे विचारानुसार शुक्लजी का इतिहास हिन्दी साहित्य का प्रौढ़ इतिहास है, जिसके सामने अन्य इतिहास-ग्रंथ टिक नहीं पाते। ऐसी स्थिति में प्रथम इतिहास-ग्रंथ का श्रेय जार्ज ग्रियर्सन के इतिहास 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' को ही दिया जा सकता है। निस्संदेह यह ग्रंथ हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास है, जिसमें कवियों का विवरण काल-क्रमानुसार दिया गया

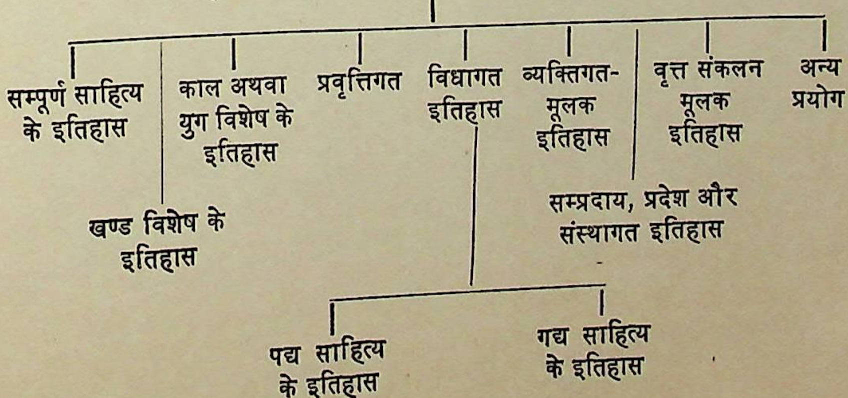
१. देखिये, डा० राजकिशोर कक्कड़ कृत आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास, पृ० ५३९।
२. देखिये, प्रो० सीताराम सिंह का लेख 'हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास'— सरस्वती संवाद, फरवरी, १९६१ ई०, पृ० २४।

है तथा हिन्दी साहित्य को कालों में विभाजित किया गया है। इसके अन्तर्गत कुछ कालों की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण भी मिलता है। साथ ही यह अपने पूर्ववर्ती इतिहास-ग्रंथों से अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक है। अस्तु, इस ग्रंथ में हमें पहली बार इतिहास लेखन के अंकुर दिखाई देते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहासों का वर्गीकरण :

हिन्दी साहित्य के इन विपुल इतिहास-ग्रंथों का वर्गीकरण किस आधार पर किया जाय, यह एक महत्वपूर्ण समस्या है। यदि आकार की दृष्टि से इन इतिहास-ग्रंथों का वर्गीकरण करें, तो ये कोटियाँ बनेंगी—संक्षिप्त आकार वाले इतिहास (जैसे, दयानंद श्रीवास्तव कृत हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास), सामान्य आकार वाले इतिहास (जैसे, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास), मंझोले आकार वाले इतिहास (जैसे, भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग की योजनानुसार प्रकाशित हिन्दी साहित्य), बृहत् आकार वाले इतिहास (जैसे, नागरी प्रचारिणी सभा काशी की ओर से प्रकाशित हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास) आदि। व्यष्टिनिष्ठ और समष्टिनिष्ठ प्रयासों के आधार पर इन इतिहास-ग्रंथों के दो वर्ग होंगे—प्रथम, एक व्यक्ति द्वारा लिखे गए इतिहास (जैसे, डा० भगवत्स्वरूप मिश्र कृत हिन्दी साहित्य का परिचय) तथा द्वितीय, अनेक व्यक्तियों या समूह द्वारा लिए गए इतिहास (जैसे, रामबहोरी शुक्ल और भगीरथ मिश्र कृत हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास)। यदि लेखन-कला के रूप को आधार बनाकर चला जाये, तो इन इतिहास-ग्रंथों का वर्गीकरण इस प्रकार होगा—लिखित या मौलिक इतिहास (जैसे, डा० दयानंद श्रीवास्तव कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास), अनूदित इतिहास (जैसे, किशोरीलाल गुप्त द्वारा अनुवादित हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास), संपादित इतिहास (जैसे, डा० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा संपादित 'हिन्दी साहित्य' तृतीय खण्ड) आदि। इतिहास प्रणाली के आधार पर वर्गीकरण करें तो हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों की दो कोटियाँ बनायी जा सकती हैं—प्रथम, विधेयवादी या वैयक्तिक प्रणाली के इतिहास (जैसे, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास) और द्वितीय, अविधेयवादी या निर्वैयक्तिक प्रणाली के इतिहास (जैसे, हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी साहित्य की भूमिका) आदि। इतिहास-लेखन सम्बन्धी दृष्टिकोण को प्रधान मानकर वर्गीकरण करने पर इन इतिहासों की जो कोटियां बनेंगी, वे कुछ इस प्रकार से होंगी—(१) वस्तुपरक दृष्टिकोण के इतिहास (जैसे, मिश्रबंधु कृत 'मिश्रबंधु विनोद'), (२) सांस्कृतिक दृष्टिकोण के इतिहास (जैसे, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य की भूमिका'), (३) समाजशास्त्रीय या मार्क्सवादी दृष्टिकोण के इतिहास (जैसे, शिवदान सिंह चौहान कृत 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष'), (४) विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण के इतिहास (जैसे, पं० राजनाथ शर्मा कृत हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास), (५) शोध या अनुसंधानपरक दृष्टिकोण के इतिहास (जैसे, डा० ओंकारनाथ श्रीवास्तव कृत 'हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष' या डा० श्रीकृष्ण लाल कृत आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास), (६) आलोचनात्मक दृष्टिकोण के इतिहास (जैसे, डा० रामकुमार वर्मा कृत हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास), (७) वैज्ञानिक दृष्टिकोण के इतिहास (जैसे, डा० गणपति चन्द्र गुप्त कृत हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास), (८) साहित्यिक दृष्टिकोण के इतिहास (जैसे, सत्यकाम वर्मा कृत हिन्दी साहित्यानुशीलन) आदि। पर हिन्दी साहित्य के इतिहासों का वर्गीकरण युगेतिहास, विधा, प्रवृत्ति, युगबोधक व्यक्ति-विशेष, शैलियों के आधार पर ही करना

अधिक समुचित होगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास सम्पूर्ण साहित्य के इतिहासों के अन्तर्गत स्वीकृत होगा, क्योंकि उसमें सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अवलोकन हुआ है। खण्ड साहित्य के इतिहास में अवलोकन युग विशेष के इतिहासों में क्रमशः डा० रामगोपाल सिंह चौहान कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (सन् १९४७ से १९६२ तक) और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' स्वीकृत होंगे। डा० भगवत्स्वरूप मिश्र कृत 'हिन्दी आलोचना : उद्‌भव और विकास' तथा डा० भगीरथ मिश्र कृत 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' विधात्मक इतिहास के अन्तर्गत स्वीकृत होंगी। हमारे मतानुसार व्यक्तिमूलक साहित्य का इतिहास उस श्रेणी में स्थान रखेगा, जिसमें किसी महान् व्यक्तित्व एवं उसके कृतित्व दोनों का प्रभाव सम्पूर्ण युग पर पड़ता हो या युग अपने अस्तित्व को उक्त प्रकार के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में समाविष्ट कर लेता हो। व्यक्तित्व एवं युग विशेष की प्रवृत्ति, विचारधारा, मान्यताएँ, आन्दोलन जब एक-दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, तो निश्चय ही वह व्यक्तित्व अपने कृतित्व के माध्यम से साहित्य का इतिहास दे सकने के कारण एक कोटि या श्रेणी बन जाता है। जैसे, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का व्यक्तित्व उनके जीवन एवं जीवन के पश्चात् कुछ वर्षों तक हिन्दी भाषी जन-जीवन पर समकालीन कृतिकारों के माध्यम से छाया हुआ था, यदि भारतेन्दु के नाम पर ही उन्हें उनके युग में, केन्द्रीय रूप में देखने की चेष्टा की जाय तो साहित्य के इतिहास की पूर्ति होगी ही। हिन्दी में कतिपय ऐसी कृतियाँ हैं, जो साहित्य के इतिहास की व्यक्तिमूलक श्रेणी के अन्तर्गत मान्य होंगी। जैसे, स्व० गिरिजा दत्त शुक्ल 'गिरीश' कृत 'महाकवि हरिऔध', गंगा प्रसाद पांडेय कृत 'महाप्राण निराला' आदि। उक्त कृतियाँ कृतिकार के माध्यम से साहित्य के इतिहास की पर्याप्त प्रवृत्तिमूलक एवं वृत्तमूलक सामग्री प्रदान करती हैं। प्रवृत्तिमूलक इतिहास की कोटि में डा० प्रताप नारायण टंडन कृत 'हिन्दी साहित्य का प्रवृत्तिगत इतिहास', डा० नामवर सिंह कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृतियाँ', आदि ग्रंथ आयेंगे। इसी प्रकार वृत्त संकलन मूलक, सम्प्रदायगत, प्रदेशगत, संस्थागत इतिहास के अन्तर्गत क्रमशः मिश्रबंधु कृत 'मिश्रबंधु विनोद', डा० विजेन्द्र स्नातक कृत 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य', नरेशचन्द्र चतुर्वेदी कृत 'हिन्दी साहित्य का विकास और कानपुर', लक्ष्मीनारायण गुप्त कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन' आदि कृतियाँ स्वीकृत होंगी। हिन्दी साहित्य के शेष इतिहास ग्रंथों को (जैसे, भाषा और साहित्य के इतिहास, बोली और साहित्य के इतिहास) अन्य प्रयोग के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है।



निष्कर्ष :

अस्तु, निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की परम्परा पर्याप्त समृद्ध रही है। आगे इसी स्वस्थ एवं समृद्ध परम्परा का हम विस्तार से अध्ययन 'हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन के प्रारम्भ से पूर्व की स्थिति', 'पूर्व शुक्ल-युग के इतिहास-ग्रंथ', 'शुक्ल-युग के इतिहास-ग्रंथ, 'शुक्लोत्तर-युग के इतिहास-ग्रंथ' तथा 'हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन सम्वन्धी विविध प्रयोग' आदि विभिन्न शीर्षकों के माध्यम से करेंगे।

• • •

Vatasta

राष्ट्र-गान

जन-गण-मन अधिनायक जय हे !
भारत भाग्य विधाता
पंजाब सिन्धु गुजरात मराठा, द्राविड़ उत्कलबंग,
विंध्य हिमाचल यमुना गंगा उच्छल जलधितरंग,
तव शुभनामे जागे, तव शुभ आशिष माँगे,
गाहे तव जय गाथा,
जन-गण मंगलदायक जय हे, भारत भाग्य विधाता
जय हे, जय हे, जय हे !
जय, जय, जय, जय हे !!

"कश्मीर विश्वविद्यालय के कला संकाय की शोध-पत्रिका सं० ४"